साइकिल

बच्चों का दुमाहिया

अंक 2 वर्ष 1

अक्टूबर - नवम्बर 2018



मूल्य ₹100



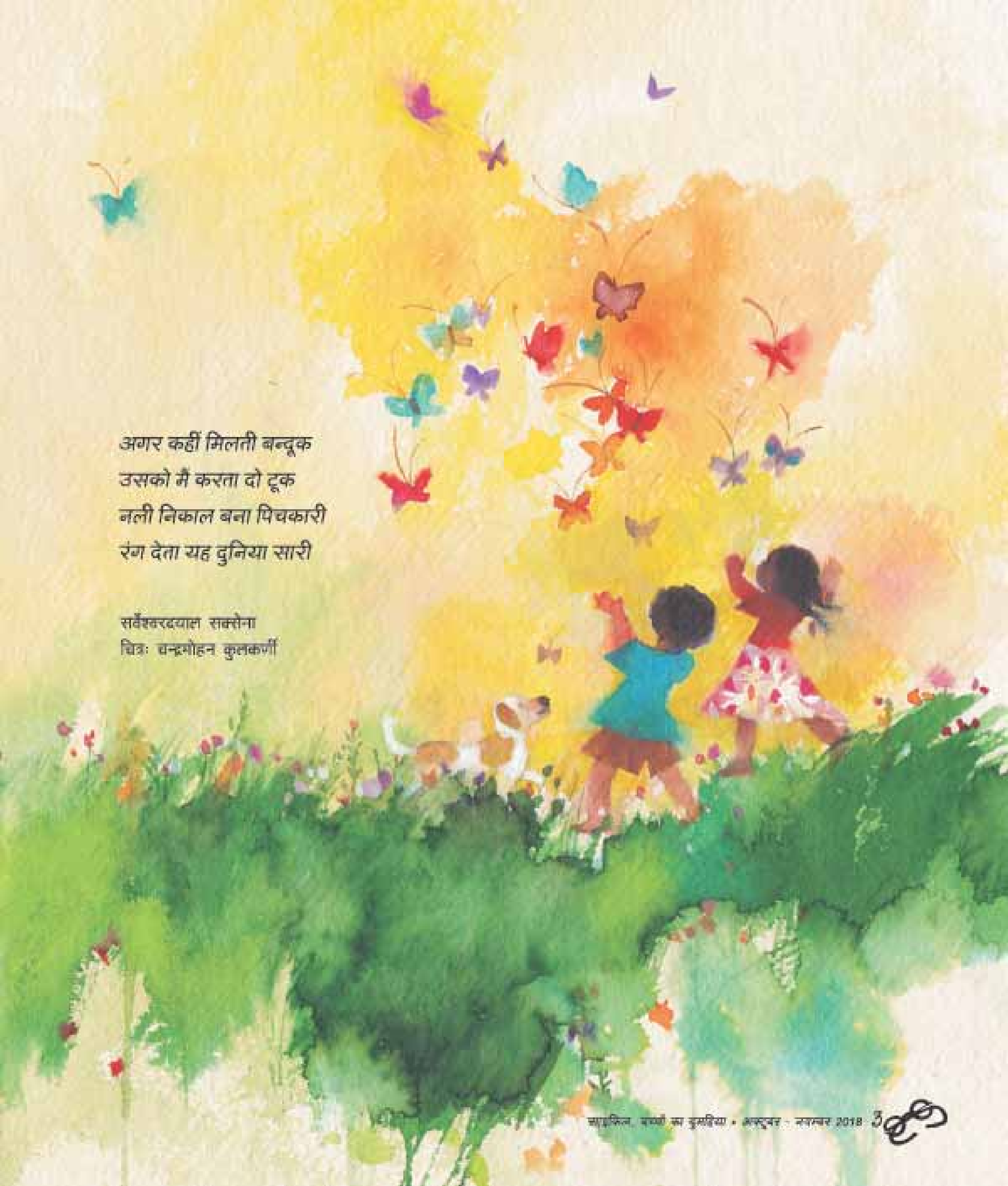
पत्तों से आई है
पंखों में रंगत
तोतों से हरी है
बादलों की तबियत

चींटी का गीत

चन्दन यादव
चित्र: देवब्रत घोष

फूँको तो उड़ जाए
फिर भी ये मुश्किल है
हाथों से मुड़ जाए
चींटी से बड़ी है
चींटी की हिम्मत





अगर कहीं मिलती बन्दूक
उसको मैं करता दो टूक
नली निकाल बना पिचकारी
रंग देता यह दुनिया सारी

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना
चित्रः चन्द्रमोहन कुलकर्णी

बच्चों का द्वैमासिक
साइकिल
अंक 2 वर्ष 1 अक्टूबर - नवम्बर 2018

सम्पादन - सुशील शुक्ल, शशि सबलोक
सहायक सम्पादक - निधि गौड़
उप सम्पादक - मिताली अहीर
विशेष सहयोग - चन्दन यादव

डिज़ाइन - तापोषी घोषाल
आवरण चित्र - एलन शॉ

वितरण - मुदित श्रीवास्तव, अनीता शर्मा
एक प्रति - 100 रुपए
वार्षिक - 600 रुपए
तीन साल - 1600 रुपए
(पंजीकृत डाक शुल्क सहित)

भुगतान विवरण -
ऑनलाइन ट्रांसफर के लिए :
HDFC बैंक, डी-23 डिफेंस कॉलोनी, नई दिल्ली
खाता नम्बर 50100067091186
IFSC : HDFC0000134

ऑनलाइन सदस्यता की लिंक -
www.ektaraindia.in/order-publications/

बैंक ड्राफ्ट/चेक
तक्षशिला पब्लिकेशन/Takshila Publication
के नाम नई दिल्ली में देय
भुगतान के बाद पूरी जानकारी publication@ektaraindia.in पर दें

इकतारा - तक्षशिला का बाल साहित्य एवं कला केन्द्र
ई-7/413 एच.आई.जी. प्रथम तल
अरेरा कॉलोनी, भोपाल - 462016
फोन : 0755 2446002, 4939472, 8989544927
ई मेल : cycle@ektaraindia.in
www.ektaraindia.in

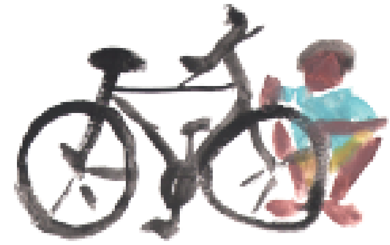
2 चींटी का गीत
3 अगर कहीं मिलती बन्दूक
6 15 अगस्त को गाँधी कहाँ थे?
7 गाँधी और अम्बेडकर
8 हाथी की कहानी
10 एक शेर की कथा
12 ज़ेब्रा
13 मूँड़ मुँड़ाए
14 आई विल शो मैरी हू इज़ द बॉस



सवाल 17
आदमी की इच्छा 17
भंगाराम देवी का दरबार 18
गुस्से का इलाज 20
लेटर टू ए टॉप साइंटिस्ट 22
मेरी माँ 24
चोर पुलिस 27
टूटे दाँत का क्या हुआ? 27
नदी को चुनौती देता पेड़ 28
सिन्धु घाटी सभ्यता 30
आज के अतीत - पुस्तक अंश 33
संस्कृति रिपेयर सेंटर 34
मेरी नज़र से 36







चित्रः वृषाली जोशी

39 सवाल आया

40 चिड़िया की साँसें गिनना

41 उँगली की डाल पर चिड़िया

42 इकतारेवाला

46 शाम को मिलना

47 माथापच्ची

48 आलू

50 हमसफ़र

52 जिसके पास चली गई मेरी ज़मीन

53 माथापच्ची

54 लाइटनिंग

57 दो चिट्ठियाँ

59 पहली अमरूद

61 हामिद कहाँ गया रे तू?

63 जुगनू

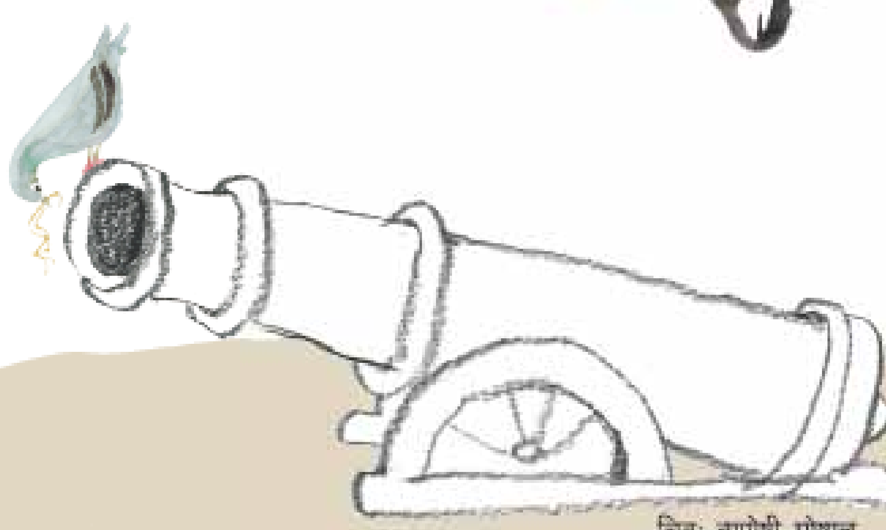
64 किराए की साइकिल

65 धर्मसंकट

67 तारों का संगीत







इक कबूतर ने तोप से पूछा,
क्या यहाँ घोंसला बना लूँ मैं?

राजेश रेड्डी

चित्रः तापोषी घोषाल

15 अगस्त 1947 को गाँधी कहाँ थे?

प्रियंवद
चित्रः तापोशी घोषाल

15 अगस्त 1947 को भारत आज़ाद हुआ था। 15 अगस्त के ज़िक्र के साथ ही देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल के ऐतिहासिक भाषण की बात होती है। इस दिन कहाँ, क्या आयोजन हुए इस का भी हवाला मिल जाता है। पर इस दिन गाँधीजी कहाँ थे? क्या कर रहे थे? इसका ज़िक्र बहुत कम होता है।

15 अगस्त को गाँधी कहाँ थे?

देश उस वक्त हिन्दू-मुस्लिम दंगों से झुलस रहा था। इस मार-काट-आगजनी से जूझते हुए गाँधी देश का दौरा कर रहे थे। वे कलकत्ता पहुँचे थे। बेलियाघाट में एक मकान 'हैदरी मेंशन' में ठहरे। इसके बारे में प्यारेलाल (गाँधीजी के निजी सहायक) ने लिखा है -

'हैदरी मेंशन' किसी मुसलमान का एक पुराना छोड़ा हुआ मकान था। वह निहायत गन्दे मुहल्ले में था। गाँधीजी के रहने के लिए उसे जल्दी-जल्दी साफ कराया गया था। वह टूटी-फूटी इमारत चारों ओर से लोगों की भीड़ के लिए खुली थी। बहुत दिन पहले उसकी खिड़कियों के काँच तोड़ दिए गए थे। वहाँ एक ही पाखाना था, जिसका इस्तेमाल सैकड़ों लोग करते थे। इनमें ड्यूटी वाले पुलिस के लोग, मुलाकाती और उन्हें देखने आए लोग शामिल थे। बारिश के कारण कीचड़ और गन्दे पानी का बोलबाला था। बदबू को दबाने के लिए सारी जगह खूब ब्लीचिंग पाउडर छिड़का गया था। उससे सिर चकराने लगता था। एक कमरा गाँधीजी के लिए अलग रखा गया था। दूसरा उनके सामान, उनकी मण्डली और मेहमानों के लिए था। तीसरा उनके ऑफिस का काम देता था।

14 अगस्त की शाम 'हैदरी मेंशन' के अहाते की प्रार्थना सभा में करीब दस हज़ार लोग थे। इनमें कुछ उग्र हिन्दू भी थे। ये दो दिन से लगातार गाँधी से बहस कर रहे थे। उन पर मुसलमानों का पक्ष लेने का आरोप लगा रहे थे। कुछ ने गाँधी के साथ ठहरे सुहरावर्दी पर हमला भी बोला था। खिड़कियों के काँच तोड़े थे। गाँधी इन सबसे बात कर रहे थे। उन्हें शान्त रहने के लिए समझा रहे थे। उनके सवालों के जवाब दे रहे थे। 14 अगस्त की रात 11 बजे गाँधी सोने चले गए। ठीक इसी समय 'वन्दे मातरम' के साथ दिल्ली में भारत के आज़ाद होने की शुरुआत हो रही थी। 15 अगस्त को गाँधी सुबह दो बजे जाग गए। वैसे वह सुबह 3 बजे उठते थे। उस दिन गाँधी ने उपवास रखा। गीता पाठ किया और कुछ ज़्यादा देर चरखा चला कर ज़्यादा कताई की। 15 अगस्त को ही दिख गया था कि गाँधी और देश के रास्ते अलग हो चुके हैं।

और आज़ादी के साढ़े पाँच महीने बाद ही गाँधीजी की हत्या कर दी गई।



गाँधी और अम्बेडकर

प्रस्तुति: सुरेश मिश्र

आज़ादी के बाद भारत का पहला मंत्रिमण्डल बनने वाला था और जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्री बनने वाले थे। उन्होंने मंत्रिमण्डल के नामों पर विचार करके एक सूची को गाँधीजी के पास भेज दिया कि वे उसे देख लें। गाँधीजी तब दिल्ली में ही थे। बापू ने लिस्ट को देखा और उस लिस्ट के नीचे एक नाम जोड़ दिया - बी. आर. अम्बेडकर। यह नाम उस लिस्ट में नहीं था। गाँधीजी ने उसमें अपने दस्तखत नहीं किए थे, लेकिन जवाहरलाल गाँधीजी के अक्षर जानते थे। उन्होंने गाँधीजी से कहा कि बापू आपने अम्बेडकर का नाम इसमें जोड़ा है और वह भी देश के मंत्रिमण्डल में! उन्होंने तो ज़िन्दगी भर काँग्रेस का विरोध किया है। तब गाँधीजी ने एकदम ठण्डी आवाज़ में पूछा कि आपको देश की सरकार बनानी है या काँग्रेस की सरकार बनानी है। और वह नाम जुड़ गया।

(नारायणभाई देसाई की गाँधी कथा से साभार)



हाची की कहानी

गीत चतुर्वेदी
चित्र: चन्द्रमोहन कुलकर्णी



1923 का समय। जापान की राजधानी टोक्यो में सड़क पर टहलते प्रोफेसर यूएनो को कुत्ते का एक पिल्ला मिलता है। अकीता नस्ल का एक शानदार पिल्ला, जिसके गले पर पट्टा बँधा है। उस पर लिखा है – हाची। जापानी भाषा में हाची का अर्थ होता है आठ वह अंक जिसे पूरा जापान बहुत सौभाग्यशाली मानता है। लेकिन पिल्ला ऐसी मजबूर हालत में था कि लगे, भाग्य का मारा है। प्रोफेसर ने तय किया कि मैं इस कुत्ते के मालिक को खोजूँगा। जब तक वह नहीं मिलेगा, यह मेरे साथ ही रहेगा। उसे साथ लेकर वह रोज़ उसके मालिक को खोजने निकलते, लेकिन वह कहीं नहीं मिला। रोज़ के इस संग-साथ के कारण दोनों में ऐसा लगाव बन गया कि हाची अब उन्हीं को अपना मालिक मानने लगा। प्रोफेसर की पत्नी को शुरू में हाची पसन्द नहीं आया। लेकिन उसकी सुन्दरता और प्रोफेसर के प्रति उसके स्नेह ने उनका दिल पिघला दिया।

समय बीतता गया। उन दोनों की दोस्ती गहरी होती गई। प्रोफेसर सुबह ट्रेन पकड़कर दफ्तर जाते और शाम को लौटकर हाची के साथ खेलते। एक सुबह, हाची भी प्रोफेसर के पीछे-पीछे चलता हुआ स्टेशन पहुँच गया। उनको बहुत अजीब लगा। उन्होंने समझाना चाहा, लेकिन हाची घर लौटने को राज़ी नहीं था। आखिर प्रोफेसर खुद उसे घर तक छोड़कर आए और दफ्तर देर से गए। शाम को काम से लौटने के बाद जब वह ट्रेन से उतरकर अपने स्टेशन के फाटक से निकले, तो देखा, बाहर सड़क पर हाची उनका इन्तज़ार कर रहा है। वह उनके साथ-साथ पैदल घर लौटा। फिर तो यह रोज़ का सिलसिला बन गया। हर सुबह हाची, प्रोफेसर को छोड़ने स्टेशन तक जाता और शाम को उनके आने से पहले ही स्टेशन के बाहर बैठकर उनका इन्तज़ार करने लगता। फिर साथ-साथ घर आता। उछलते-पुलकते।

एक शाम, हाची स्टेशन के बाहर बैठकर इन्तज़ार कर रहा था। बहुत देर हो गई, लेकिन प्रोफेसर लौटकर नहीं आए। रात हो गई। बर्फ गिरने लगी, पर न तो प्रोफेसर आए, न ही हाची उस जगह से हिला। दरअसल, उस दोपहर दफ्तर में प्रोफेसर



का निधन हो गया था। अब उन्हें कभी नहीं लौटना था। लेकिन हाची को यह बात कैसे पता चल सकती थी? उसे तो बस इतना समझ आया कि उसका दोस्त इस जगह, ट्रेन से उतरकर, हर रोज़ उसके पास लौट आता था, आज नहीं लौटा है। हो सकता है, थोड़ी देर बाद आ जाए।

देर रात प्रोफेसर के परिजन उसे जबरन घर ले गए, लेकिन अगली सुबह हाची फिर उसी जगह आकर बैठ गया। उसे विश्वास था कि प्रोफेसर रोज़ की तरह स्टेशन के उस दरवाज़े से निकलकर आएँगे। उससे प्यार करेंगे और फिर वे दोनों खेलते-टहलते घर लौटेंगे। वह रोज़ सुबह स्टेशन के बाहर उसी जगह बैठ जाता और देर रात घर लौट आता।

कुछ समय बाद प्रोफेसर की पत्नी ने मकान बेच दिया और दूसरे शहर चली गईं। वह अपने साथ हाची को भी लेती गई थीं, लेकिन हाची वहाँ से भाग आया और स्टेशन के बाहर ठीक उसी जगह पर बैठकर फिर से इन्तज़ार करने लगा। स्टेशन के आसपास लोग उसे पहचानते थे। वे लोग हाची को खाना खिला देते। वह दिन-भर स्टेशन को देखता रहता। ट्रेन आती, तो उचक-उचककर अपने प्रोफेसर को खोजा करता। रात होती, सिर झुकाकर वह यार्ड में सोने चला जाता।

एक साल... दो साल... तीन साल... पूरे नौ साल और नौ महीने तक हाची ठीक उसी जगह बैठ अपने प्रोफेसर का इन्तज़ार करता रहा, जिसे एक सुबह उसने ट्रेन में बिठाकर विदा किया था। लेकिन जो फिर कभी लौटकर नहीं आया। सर्दी, गर्मी, बरसात, बर्फ हाची को इन सबसे कोई फर्क नहीं पड़ा।

बीच में कभी, किसी बरस प्रोफेसर की पत्नी अपने पति की कब्र पर फूल चढ़ाने आ जाती तब वह हाची के साथ सड़क पर बैठकर रोती रहती। और शायद उस मूक जानवर के प्रेम, समर्पण व प्रतीक्षा पर अचरज करती। समय के साथ हाची बूढ़ा हो गया। लेकिन उसने इन्तज़ार करना नहीं छोड़ा। 1935 में उसी जगह बैठे-बैठे उसने दम तोड़ दिया। उस समय बर्फ गिर रही थी। मरे हुए हाची की खुली आँखों को जैसे अब भी इन्तज़ार था।

एक शेर की कथा

विनोद कुमार शुक्ल

सौ की गिनती सबको आई
जंगल में था एक शेर
जब अम्मा ने कथा सुनाई
बाकी शेर कितने थे?
बिटिया ने यह बात उठाई

उड़ती चिड़िया को गिनना
तब भी था आसान
जंगल में छिपे-घूमते शेरों को
गिनना था कठिन काम
एक शेर सब शेरों जैसा

केवल एक शेर को
यहाँ वहाँ हर बार
गिना गया था सौ सौ बार
एक शेर की अम्मा ने भी
कथा सुनाई सौ सौ बार





तुम वही बाघ हो?

इस पूरी पृथ्वी पर किन्हीं भी दो लोगों की उँगलियों के निशान एक-से नहीं हैं। दो लोगों की बात तो छोड़ो, किसी एक व्यक्ति की दो उँगलियों के निशान भी एक से नहीं हैं। वैसे इस पर यकीन करना थोड़ा मुश्किल लगता है। इतने सारे लोग और उनसे भी ज़्यादा उनकी उँगलियाँ.... कितने अरब खरब निशान होंगे?

उँगलियों के अलग निशान लोगों की पहचान का एक तरीका बन गए।

दो बाघों की धारियाँ अलग-अलग होती हैं। धारियाँ ही नहीं किन्हीं भी दो बाघों की मूँछ के बाल और पँजों के निशान भी मेल



टाइगर के सभी चित्रः संजय देशपाण्डे







नहीं खाते। इन्हीं तीन बातों से बाघों की पहचान की जा सकती है। पर पँजों के निशान बदलते रहते हैं - कीचड़ में और तो रेत में और। मूँछ तो तभी दिखे जब कोई उसके बहुत पास जाए और उसे इत्मीनान से देखे। बाघ के पास जाकर उसकी मूँछ देखी जा सकती है। मगर वहाँ से लौट आने के अवसर ज़्यादा नहीं होंगे। तो उसकी पहचान का बचा सिर्फ एक तरीका - उसकी धारियाँ।

चलते-बैठे-सोते बाघ की धारियों की फोटो का कम्प्यूटर में डेटाबेस तैयार किया जाता है। इससे जंगल में बाघों की गिनती की जाती है।

एक दिलचस्प बात यह भी है कि बाघों के दोनों तरफ धारियों के पैटर्न अलग-अलग होते हैं। यानी फोटो लेते समय इस बात का भी ख्याल रखा जाता है।

बाघ की धारियाँ उसे खूबसूरत तो बनाती ही हैं शिकार में भी उसकी मदद करती हैं। बाघ अमूमन घास के मैदानों में घात लगाकर हमला करता है। तो खड़ी लम्बी घास और उसकी परछाईं के बीच में बाघ की पीली-काली धारियाँ उसे छिपा लेती हैं।

यहाँ एक बाघ की चार फोटो हैं। एक दूसरे बाघ की दो फोटो हैं। क्या तुम पहचान पाए वे दोनों बाघ कौन-से हैं?

ज़ेब्रा

शेल सिल्वरस्टीन
चित्रः नबरीना सिंह

मैंने ज़ेब्रा से पूछा
क्या तुम काले पे सफेद धारियाँ हो
याकि सफेद पे काली धारियाँ?

जेब्रा ने मुझसे पूछा,
क्या तुम बुरी आदतोंवाले अच्छे हो
याकि अच्छी आदतों वाले बुरे
क्या तुम ऊधमी शान्त हो
याकि तुम शान्त ऊधमी
क्या तुम कभी कभी दुखी होने वाले खुशमिज़ाज हो
या कि कभी कभी खुशमिज़ाज होने वाले दुखी
क्या तुम साफ-सुथरे हो जो कभी-कभी गन्दा रहता है
याकि गन्दे हो जो कभी-कभी साफ सुथरा रहता है

इस तरह
क्या तुम... याकि... चलता रहा चलता रहा चलता ही रहा
अब पूछा तो पूछा...फिर किसी ज़ेब्रे से
उसकी धारियों के बारे में कुछ नहीं पूछूँगा...कसम से!

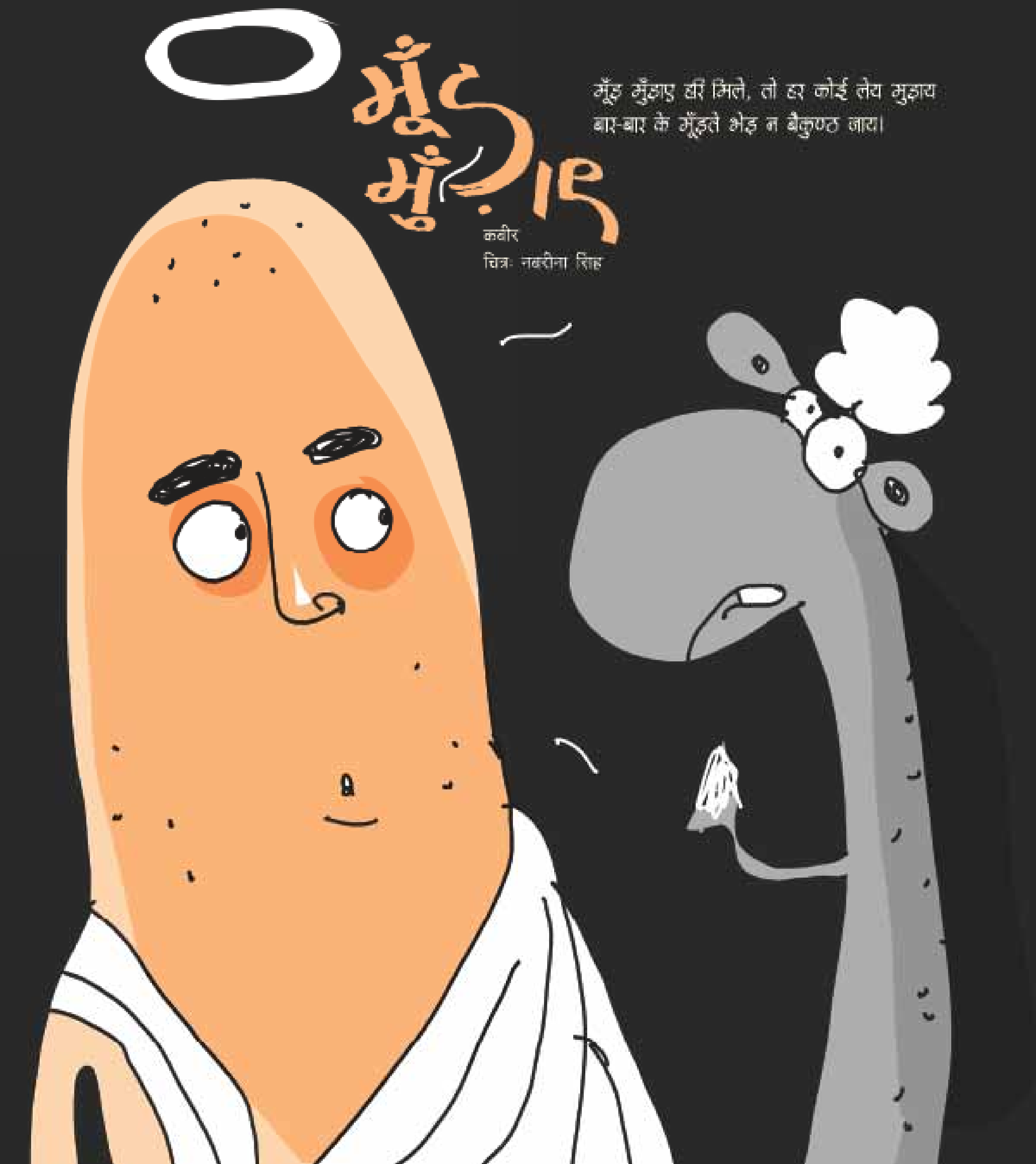


मूँड मुँड़ाए

कबीर

चित्र: नवरीना सिंह

मूँड़ मुँड़ाए हरि मिले, तो हर कोई लेय मुड़ाय
बार-बार के मूँड़ते भेड़ न बैकुण्ठ जाय।



आई विल शो मैसी हू इज़ द बॉस

चित्रः चन्द्रमोहन कुलकर्णी

प्रांजल श्रीवास्तव से शशि सबलोक की बातचीत



प्रांजल 19 साल के हैं। इनका बचपन भारत के लाखों बच्चों की तरह बीता। छोटी-बहन का ख्याल करते, उससे लड़ते-झगड़ते, मम्मी-पापा के दुलार और डाँट के साथ। दोस्तों के साथ स्कूल-पढ़ाई-कोचिंग-घूमते हुए। और हाँ, क्रिकेट खेलते। देखते। उसकी हर खबर पढ़ते। ये खेल के पन्ने से अखबार पढ़ना शुरू करते। क्रिकेट की खबरों से। प्रांजल तब 13-14 साल के थे। 15 साल के होते-होते ये फुटबॉलर मैसी के ज़बरदस्त फैन बन गए। मैसी की जर्सी, मैसी की खबरें, मैसी की ड्रिब्लिंग, मैसी के गोल, मोबाइल में मैसी और उसके बच्चों की तस्वीर...। मैसी का नाम उनकी आँखों में चमक ले आता है।

पर यह हुआ कैसे? क्रिकेट खेलते-खेलते फुटबॉल कहाँ से आ गया?

प्रांजल से ही पूछते हैं...

बचपन से ही क्रिकेट मुझे अच्छा लगता था। क्रिकेट के बाद जब भी खेल पन्ने पर इधर-उधर आँख घुमाता तो वो रोनाल्डो-मैसी पर ही अटकती। रोनाल्डो पुर्तगाल के फुटबॉलर हैं और मैसी अर्जेंटीना के। अखबार में दोनों के बारे में आता रहता था कि इनमें से कौन ज़्यादा अच्छा है। तो मैंने सोचा मैं भी देखूँ कि कौन ज़्यादा बेहतर है। तो मैंने वीडियो-यू ट्यूब में सर्च किया। मैसी बहुत अलग ही लगा। जादू है उसमें। पहले वो राइट विंग से खेलता था। तो वो आठ-दस को अपनी तरफ खींचता और ऐसी ड्रिब्लिंग करता, ऐसी तेज़ी और सफाई से कट लगाता कि मज़ा आ जाता। बिलकुल जादू जैसे। बस हाइट उसकी कम है तो हैडिंग नहीं कर पाता। पर इसकी वजह से तो कोई रोनाल्डो को पसन्द करे ऐसा तो नहीं हो

सकता ना। मैसी की ड्रिब्लिंग, स्ट्राइकिंग, पासिंग देखते-देखते पता ही नहीं चला कब मैं फुटबॉल फैन हो गया।

मैसी को कहाँ-कहाँ फॉलो करते हो?

वो अर्जेंटीना का है। इसलिए वहाँ से भी खेलता है और बार्सिलोना क्लब से भी। तो ये मैच तो देखता ही हूँ। चाहे जितनी रात हो जाए। एग्ज़ाम्स हो कुछ भी हो।

मैसी के अलावा किसी और का गेम देखते हो?

हाँ, हाँ देखता हूँ। पर मैसी से अच्छा कोई हो ही नहीं सकता। और इतना अच्छा इंसान भी है। वो अच्छा इंसान है इसीलिए अच्छा खेल पाता है।

कैसे?

वो हर गोल करके ऊपर देखता है। अपनी दादी को याद करता है। उसकी दादी ही उसको फुटबॉल खिलाने एकैडमी में ले जाती थीं। ऐसा आदमी जो इन सब को याद रखता है। वो कभी बुरा नहीं हो सकता। उसके दो बच्चे हैं। वो अपने बच्चों और पत्नी से बहुत-बहुत प्यार करता है। बहुत लॉयल है।

वो बार्सिलोना क्लब के साथ शुरू से खेल रहा है। शायद 33 साल हो गए। उसने क्लब नहीं बदला। दूसरे क्लब उसे ज़्यादा पैसे ऑफर करते हैं। पर वो नहीं गया।

क्या चीज़ है जो उसके गेम को खूबसूरत बनाती है?

इतने पेशन्स से वो पहले गेंद को अपने पास रखता। अटैक नहीं करता। सिर्फ पास करता रहता है। फिर इतनी खूबसूरती से स्पेस निकालता है कि सब देख ते रह जाते हैं। विरोधी टीम का पूरा डिफेंस खुल जाता।

और कुछ...

वो चैम्पियन्स लीग का क्वाटर फाइनल था। बायर्न क्लब का गोल कीपर मैनुअल नुअर उसे ट्रिगर करने लगा। उसने कह दिया कि - आई विल शो मैसी हू इज़ द बॉस। वो गोल कीपर है 6 फुट 4 इंच का और मैसी है पाँच फुट सात इंच का। तो मैसी ने उस मैच में दो गोल मारे थे। एक गोल तो ऐतिहासिक माना जाता था। उसने उसे चिप कर मारा। चिप माने उसके सिर के ऊपर से मार दिया। आज तक कोई उसे चिप नहीं कर पाया। मैसी को एंकल ब्रेकर भी बुलाते हैं। वो ऐसे एंगल से इस तरह बॉल मारता है कि लोगों के एंकल टूट जाते हैं।

हर मैच 90 मिनट का होता है। पर वो पूरा-पूरा मैच खेलना पसन्द करता है। पर अब तो उसका हाथ टूट गया। अब तो बाहर होना ही पड़ेगा।

अरे हाँ, 21 अक्टूबर के मैच में ना...

सिविला के विरुद्ध मैसी अर्जेंटीना की तरफ से खेल रहा था। इस मैच में वो एक गोल कर चुका था। अचानक वो गिर गया। पहले तो मैंने सोचा यूँ ही कर रहा है। फुटबॉलर अक्सर गिरने का नाटक वाटक करते रहते हैं। मैसी ऐसा नहीं करता। वो गिरा और बचने के लिए उसने अपनी कोहनी ज़मीन पर टिका दी। पहले तो थोड़ी देर गिरा रहा। सोचा उठ जाएगा।



फिर देखा उठ नहीं रहा। उसका हाथ पूरा मुड़ गया था। वो बहुत दर्द में था। तो उसे मैच से जाना पड़ा। अब वो तीन हफ्ते तक मैच नहीं खेल पाएगा।

उसके जाने के बाद का मैच देखा?

हाँ देखा। मैसी अच्छा लगता है पर अब फुटबॉल भी अच्छा लगता है। इतने सारे मैच आ रहे हैं। अब उसके बिना टीम का पता नहीं क्या होगा।

कभी उसे ई मेल करने की कोशिश की?

नहीं नहीं... उसके आसपास तो इतने लोग होंगे। इतने लोगों से वो मिलता होगा। मैंने तो स्पैनिश भी सीख ली। मिला तो थोड़ी बहुत स्पैनिश में बात कर ही लूँगा।

कभी उसके सपने आते हैं?

हाँ, बहुत बार। एक बार तो मैं उसके घर में उसके बच्चों के साथ खेल रहा था। एकदम ऐसे फील हो रहा था कि मैं उसके घर का ही मैम्बर हूँ।

अगर मैसी से कभी मिलना हुआ तो क्या करोगे

क्या करूँगा... रोने लगूँगा..। आवाज़ ही नहीं निकलेगी।

फिर?

पता नहीं... गले लगा लूँगा।

और प्रांजल का गला रुँध गया। लगा जैसे दुनिया थोड़ी देर के लिए बदल-सी गई है।





गोल

शादाब आलम

झनन-झनन-झुन-झिनन-झिनन
खेल रही फुटबॉल किरन
ताक-धिका-धिक-धिक-धिक-धिक
मारी उसने ऐसी किक
बजा ढमा-ढम-ढम-झम ढोल
रोक सका न कीपर गोल

सवाल

वर्षाश्री
चित्रः प्रोइती रॉय



माँ
क्या भगवान भी हमारी तरह पन्नी बीनता है?

तुम तो कहती हो
हमें भगवान ने पैदा किया है।
क्या हमारा भगवान भी
हमारी तरह पन्नी के घरों में रहता है?

माँ,
क्या उसे भी हमारी तरह
पुलिस उठा कर ले जाती है
और मार-मार के खाल उधेड़ देती है?

क्या थानेदार को बनाने वाला
भगवान अलग होता है?

आदमी की इच्छा

देवीप्रसाद मिश्र

एक आदमी ने तड़पकर कहा
और उसकी आवाज़ पूरे
चरागाह में गूँज उठी कि
मैं मवेशी होना चाहता हूँ

आदमी होकर रोटी नहीं मिलती
मवेशी होकर घास तो मिलेगी ही

आदमी की यह इच्छा सुनकर
मवेशी चौंक पड़े

ठिठोली करते हुए वे
आपस में बतियाते थे
कि दूर से मूरख को सब
हरा दिखता है

भूख की तकलीफ के बावजूद उन्हें
हँसी आ गई



चित्रः अतनु राय

भँगाराम देवी का दरबार



बस्तर छत्तीसगढ़ का एक बेहद खूबसूरत ज़िला है। एक बार मेरे दोस्त वहाँ के एक गाँव से गुज़र रहे थे। उन्हें सड़क किनारे गोबर का एक टीला दिखा। बहुत ऊँचा। उन्होंने देखा कि हर आता-जाता वहाँ गोबर फेंक रहा है।

उन्हें बड़ी हैरानी हुई। उन्होंने वहाँ से गुज़रते एक आदिवासी से पूछा, "भैया, यह क्या है?"

"यह तो माई है।"

"यानी?"

"ये हमारी देवी हैं। हम इनकी पूजा करते हैं। पर अब इनको सज़ा मिली है। इन्होंने किसी की मन्नत पूरी नहीं की। उसे गुस्सा आया और इनको सज़ा मिल गई। अब हर कोई इन पर गोबर फेंकता है।"

"पर देवी को कौन सज़ा देता है भाई?"

"देवी भंगाराम के दरबार में सज़ा दी जाती है। जब ये मन्नत पूरी कर देंगी, इनकी सज़ा खतम हो जाएगी। फिर इन्हें नहला धुलाकर वापिस देवगुड़ी में बिठा देंगे।" आदिवासी ने इतना कहा और अपनी जान छुड़ाकर भागा।

मेरे दोस्त ने उस गोबर के पहाड़ को ध्यान से देखा। फिर पूछते-पूछते केसकाल घाटी पहुँच गया। वहाँ एक टीले पर देवी भंगाराम का मन्दिर था। मन्दिर के पीछे ढलान पर एक आंगा (देवता) लुढ़के पड़े थे। उनके पास ही चाँदी का छत्र, श्रृंगार का सामान, प्रसाद वगैरह था।

उनसे पता चला कि भंगाराम पुरुषों वाला नाम है पर हैं ये एक देवी। कहते हैं कि एक बार भंगाराम बस्तर के राजा के सपने में आए और कहा कि मैं तुम्हारे देश में आना चाहता हूँ। राजा अपने मंत्री और प्रजा के साथ केसकाल की घाटी पर देवता के स्वागत में खड़े हो गए। तभी बड़ी ज़ोर की आँधी चली। देवता पुरुष वेश में घोड़े पर सवार होकर आए थे। पास आने पर लोगों ने प्रणाम किया तब तक वे स्त्री वेश में बदल गए थे। केसकाल घाटी में सड़क के किनारे टीले पर बना मन्दिर ही देवी के प्रकट होने का स्थान है।

बस्तर के लोग अपने देवी-देवताओं से बातें करते हैं। बात करने के लिए देवी-देवता किसी के ऊपर आते हैं। लोग अपनी हर परेशानी अपने देवता से साझा करते हैं, जैसे - बारिश न होना, फसल बर्बाद होना, कर्ज़, पति-पत्नी में झगड़े, बच्चों का बीमार रहना, बूढ़े पिताजी की खाँसी, माताजी का कमर दर्द...। यानी देवता होने का यह मतलब नहीं कि लोग परेशान रहें और देवता मन्दिर में आराम करें। देवता को लोगों की हर परेशानी में साथ रहना होता ही है। परेशानी दूर करने के लिए वे अपने देवता से मन्नत माँगते हैं। ऐसे मौके पर देवता भी चुप नहीं रहते। सख्त मोल भाव होता है। ढेर सारी तू-तू, मैं-मैं, चीख चिल्लाहट, बहस, इनकार, इसरार के बाद मामला एक मुर्गे की बलि पर जाकर खत्म हो सकता है। अब उनकी परेशानी का हल निकालना देवता की ज़िम्मेदारी बन जाती है। कभी ऐसा हो जाता है, और कभी नहीं भी होता। जिस दिन लोगों को लगा कि आंगा अपना काम ठीक से नहीं कर रहा है यानी खेतों को पानी नहीं मिला, कर्ज़ से मुक्ति नहीं मिली, समझ लो उस दिन आंगा की खैर नहीं। भंगाराम देवी के दरबार में हर किसी की सुनवाई होती है। मगर ऐसा भी नहीं कि लोग एकतरफा इल्ज़ाम अपने देवों पर लगाते रहें। यहाँ



फोटोः साभार खेम वैष्णव

देवताओं के पास भी अपनी बात रखने की पूरी आज़ादी होती है। जैसे कोई देवता कह सकता है कि पिछली बार जब इसका नाना बीमार पड़ा था, दो बकरों की बात हुई थी पर ये तो पलटकर नहीं आया। मैं इसका यकीन क्यों करूँ? ऐसे में सज़ा उस इंसान को मिल सकती है जिसने अपना वादा पूरा नहीं किया।

सज़ा का फैसला दोषी के गुनाह के हिसाब से होता है। देवता को कैद मिलेगी या मौत की सज़ा, प्रसाद चढ़ना बन्द हो जाएगा या उनका देवता होने का दर्जा ही खारिज हो जाएगा, सब गुनाह पर निर्भर करता है। ऐसा भी होता है कि कैद की सज़ा मिलने के कुछ दिन बाद लोगों को अपने देवता की याद आने लगती है। उन्हें लगता है कि इतनी सज़ा काफी है, तो वे भंगाराम के पास आकर अपील कर सकते हैं। इसके लिए उन्हें कुछ देना पड़ता है। यह "कुछ" पैसा या कुछ और भी हो सकता है। इसे चुकाकर वो अपने देवता को वापस ले आते हैं।

भंगाराम देवी के दरबार में ही किसी देव को देवता होने की मान्यता मिलती है। अगर उन्होंने अपना काम ठीक से नहीं किया तो इस दरबार में आकर लोग कह सकते हैं कि हम इन्हें अपना देवता नहीं मानते। फैसला भंगाराम देवी करती हैं। अगर एक ही नाम के दो देव हों तो असली और नकली का फैसला भी यहीं होता है। यहीं तय होता है कि किसे देव माना जाए और किसे नहीं। एक ही नाम के दो-दो देव हों तो असली कौन नकली कौन!

यह दरबार हमेशा नहीं लगता। आम दिनों में तो मन्दिर में सन्नाटा ही रहता है। दरबार में औरतों को शामिल नहीं किया जाता। लोगों का मानना है कि वह अपने प्यारे देवता को सज़ा पाते देख रो पड़ेंगी।

स्रोत - राजीव रंजन प्रसाद की किताब 'बस्तरनामा' से



गुस्से का इलाज

सुकुमार रॉय
अनुवादः शिवली किस्कू
चित्रः अतनु राय



केदारबाबू बड़े गुस्सैल हैं। जब गुस्सा होते हैं, आगे-पीछे की कोई खबर नहीं रखते।

एक दिन वो चेहरा उतारे बैठे थे। तो हमारे मास्टरजी ने पूछा, "क्या बात है केदार केश्टो? चेहरा मटके की माफिक गोल क्यों बना रखा है?"

केदारबाबू तमककर बोले, "अरे साहब, मत पूछिए। मेरे चाँदी जड़े हुक्के के सात टुकड़े हो गए हैं। चेहरा मटके की तरह नहीं तो क्या कटोरे की तरह होगा?"

"क्या कहते हो!" मास्टरजी ने कहा, "कोई काँच का बरतन या मिट्टी का खिलौना तो था नहीं जो ऐसे ही टूट जाए!"

"ऐसे ही भला कैसे टूटेगा!" केदारबाबू बोले, "बात सुन तो लीजिए... ऐसा हुआ कि कल रात नींद अच्छे से नहीं हो पाई थी। सुबह उठकर, मुँह-हाथ धोकर हुक्का पीने का इन्तज़ाम कर ही रहा था कि उसकी आग फर्श पर गिर गई। जो मैंने उस आग को बुझाने की कोशिश की तो उँगलियाँ जल गईं। अब आप ही बताइए, मेरा ही हुक्का, मेरी ही आग, मेरा ही फर्श ऊपर से मुझ पर ही ज़ुल्म? गुस्सा नहीं आता भला? ज़्यादा नहीं, डण्डे से पाँच-दस बार कूटते ही कम्बख्त हुक्का टूट गया।"

"जो भी कहो, गुस्सा तुम्हारा बहुत ज़हरीला है। इसे ज़रा काबू में रक्खो।" मास्टरजी बोले।

"बस आपने कह दिया, मैंने सुन लिया। सिर्फ कहने-सुनने से काबू में आनेवाला गुस्सा नहीं है यह।"

"ठीक... तो एक उपाय है। सुना है कि जब गुस्सा आए तो बहुत धीरे-से एक दो तीन चार गिनने से गुस्सा ठण्डा होता है। अब चूँकि तुम्हें इतना ज़्यादा गुस्सा आता है तो तुम सौ तक गिन लेना।"

एक दिन केदारबाबू स्कूल के सामने से जा रहे थे। छुट्टी हो गई थी और लड़के कँचे खेल रहे थे। अचानक एक कँचा वहाँ से गुज़रते केदारबाबू के पैर की हड्डी पर लग गया... फिर क्या था! केदारबाबू हड़बड़ाकर इतना ऊँचा कूदे मानो छत पार कर जाएँगे।

सारे लड़के मिनटों में नौ दो ग्यारह हो गए।

केदारबाबू ने सोचा, "मास्टरजी की बात को एक बार आज़मा लिया जाए।" गुस्सा तो उन्हें ज़ोर का आ रहा था फिर भी उन्होंने शुरू किया, "एक दो तीन चार पाँच..."

स्कूल के बीच किसी आदमी को खड़े-खड़े गणित का अभ्यास करता देख, दरबान ने जल्दी-जल्दी दूसरों को बुला लिया।

एक ने पूछा, "क्या हुआ है?"

केदारजी ने कहा, "सोलह, सत्रह, अठारह, उन्नीस, बीस..."

सब कहने लगे, "लगता है पगला गए हैं। ओ, अरे ओ साहब ऐसा क्यों कर रहे हैं?"

केदारजी मन ही मन भयंकर गुस्से से उबलते रहे पर गिनती फिर भी बन्द नहीं की।

एक गुज़रते राहगीर ने कहा, "हकीम बुलाना पड़ेगा क्या? कोई बीमारी लग गई है आपको?"

आग बबूला केदारजी बोले, "उनसठ, साठ, इक्सठ, बासठ, त्रेसठ..।"

चारों ओर शोर शराबा था। देखते ही देखते भीड़ जमा हो गई थी। मास्टरजी भी देखने पहुँच गए कि माजरा क्या है! तब तक केदारजी की गिनती खत्म होने ही वाली थी। उनकी दोनों आँखें लालम लाल थी। छड़ी को सिर के ऊपर साँय साँय घुमाते हुए वे कह रहे थे, "छ्यानवे, सन्तावने, अंठानवे, निन्यानवे, सौ...किस कम्बख्त झूठे ने कहा था कि गिनती से गुस्सा कम होता है?" कहते हुए वे दाएँ-बाँए अँधाधुँध छड़ी पीटने लगे।

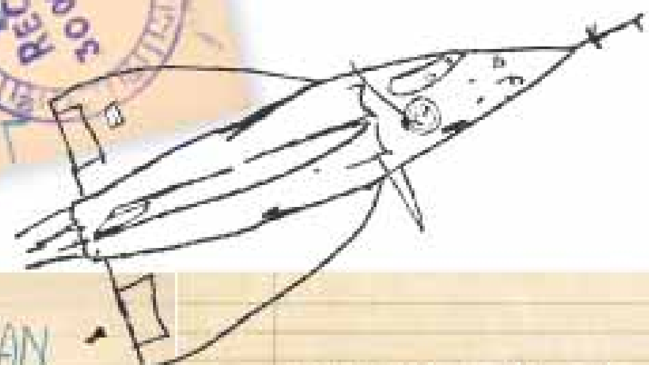
सभी लपककर वहाँ से गायब हो गए। और मास्टरजी? वो जो तीर-से भागकर अपने कमरे में दाखिल हुए, तो फिर सारा दिन बाहर नहीं निकले...

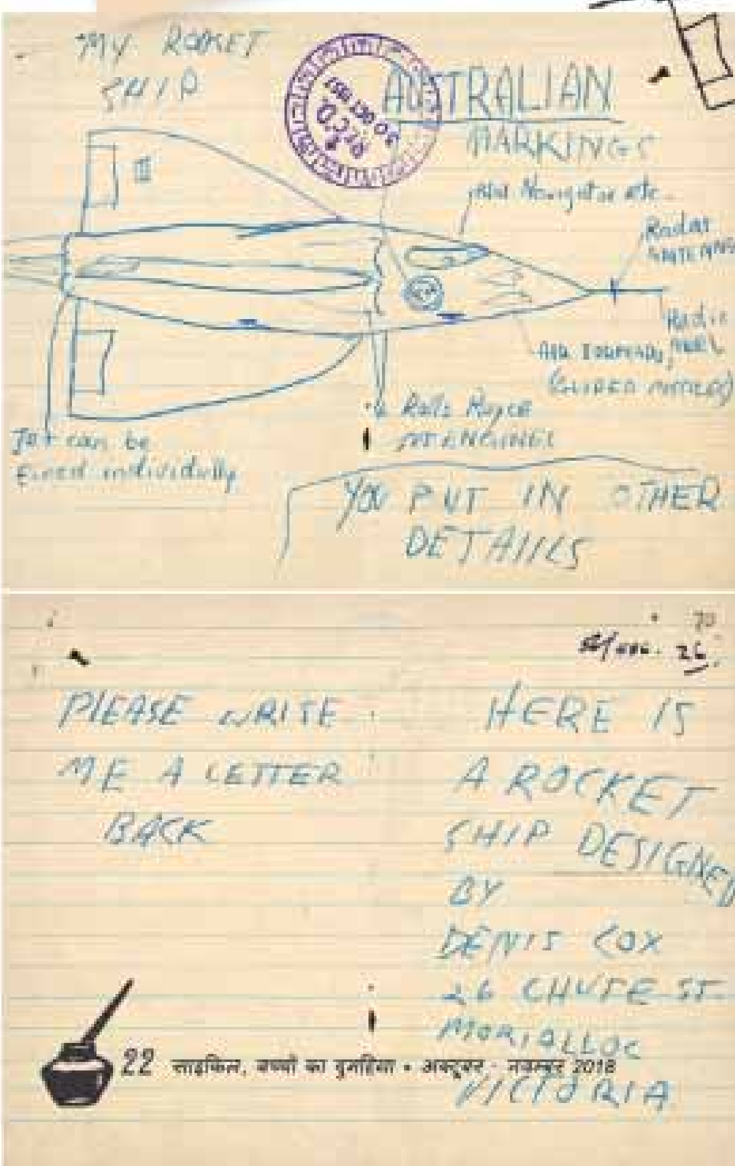


असगर वजाहत
चित्रः तापोषी घोषाल



लेटर टू ए टॉप साइंटिस्ट





1957 में सोवियत यूनियन ने स्पुतनिक-1 उपग्रह को अन्तरिक्ष में छोड़ा। यह एक बड़ी कामयाबी थी। एक बड़ी खबर। दुनियाभर में यह चर्चा का विषय बनी। उन्हीं दिनों ऑस्ट्रेलिया के एक बच्चे - डेनिस - ने वूमरा स्थित रॉयल ऑस्ट्रेलियन एयर फोर्स को एक चिट्ठी भेजी। उसका बहुत आग्रह था कि ऑस्ट्रेलिया को भी अन्तरिक्ष में रॉकेट भेजना चाहिए। उसने इस पर बहुत सोचा-विचारा था। और रॉकेट का एक मोटा-मोटा डिज़ाइन भी तैयार किया था। फिर निर्देशों के साथ उसने इस डिज़ाइन को एक खत में लिखा। पर वो खत भेजे किसे! मामला बहुत महत्वपूर्ण था इसलिए उसने उसे - टॉप साइंटिस्ट - के नाम भेजा।

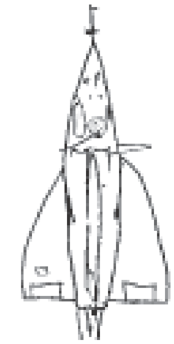
52 साल तक किसी का उस पर ध्यान नहीं गया। 2009 में डेनिस की चिट्ठी ऑस्ट्रेलिया के नैशनल आर्काइव की वेबसाइट पर नज़र आई। और चर्चा का विषय बन गई। और डेनिस को 52 साल बाद ऑस्ट्रेलियन रक्षा विभाग से अपनी चिट्ठी का जवाब मिला:

ऑस्ट्रेलियन सरकार
रक्षा विभाग
डिफेंस साइंस और टेक्नोलॉजी ऑर्गनाइज़ेशन
28/8/09

प्रिय मिस्टर कोक्स,

आपके खत के लिए बहुत शुक्रिया। हमें यह खत 20 अक्टूबर 1957 को मिल गया था। पर चूँकि आपने इसे वूमेरा रॉकेट रेंज के 'एक टॉप वैज्ञानिक' के नाम भेजा था, इसीलिए इसे मुझ तक पहुँचने में काफी समय लग गया। और थोड़ा समय आपके सुझावों पर गौर करने में भी लगा। इस देरी के लिए मैं माफी चाहता हूँ।

खैर, इस चिट्ठी के साथ मैंने हमारे एक हाइपर सोनिक वाहन के आधुनिकतम विमान की तस्वीरें भेजी हैं। इसमें आप अपने सुझाए डिज़ाइन की कहीं-कहीं झलक देख पाएँगे। इसके पंख थोड़े छोटे हैं। अभी हम इतनी तरक्की नहीं कर पाए हैं कि लोगों को बैठा कर उड़ान भर सकें, जिसकी आपने साफतौर पर सिफारिश की है। दिलचस्प है कि हम लोग अभी भी रॉकेट इंजन को टरबाइन से जोड़ने के ख्याल पर विचार कर रहे हैं। आपने इसे अपनी चिट्ठी में सुझाया था। इस इंजन को हम अब रॉकेट बेस्ड कम्बाइंड साइकल इंजन कहते हैं। अभी भी ये उतने ही अच्छे चलते हैं जितने 1957 में चलते थे। मेरी उसके ढाँचे में भी बड़ी दिलचस्पी है। ये सचमुच बहुत अच्छा है।



मुझे आपकी चिट्ठी में सबसे मज़ेदार लगा 'बाकी डीटेल्स आप खुद भर लें' लिखना। आपमें एक अच्छे प्रोग्राम मैनेजर के तमाम गुण हैं। मुझे यकीन है कि आप अपना काम जानने वालों को अपनी सूझ और समझ से काम करने की पूरी आज़ादी देंगे।

मुझे याद है बचपन में मैं भी रॉकेट शिप्स और प्लेन बनाता था। यह लगभग उसी समय की बात है जब आपने यह चिट्ठी लिखी होगी। जाने कैसे आज मैं वहाँ हूँ जहाँ प्लेन और इंजन डिज़ाइन किया जाता है। जल्द ही, 8 मार्च को ये करीब 9000 किलोमीटर/घण्टे की स्पीड से उड़ान भरेंगे। और इन सभी पर ऑस्ट्रेलिया का निशान है, जैसा आपने चाहा था।

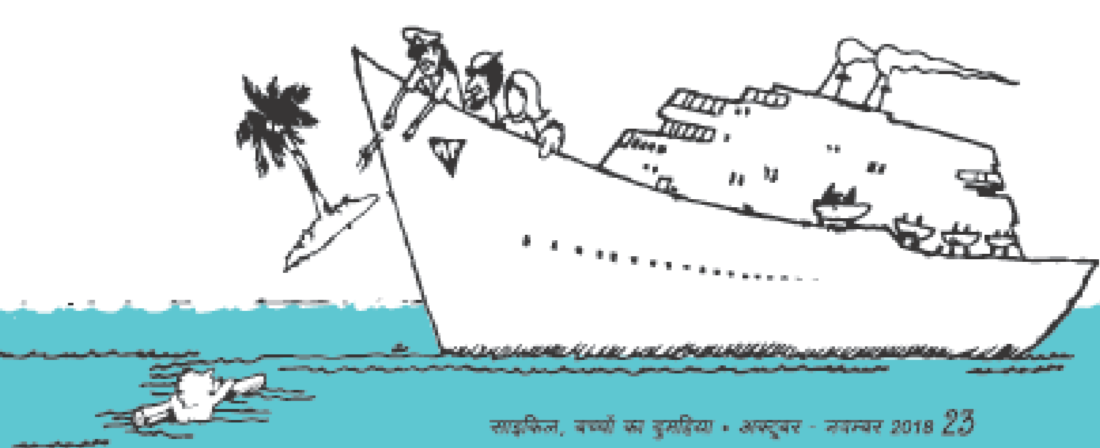
मेरी तो बस यही ख्वाहिश है कि अपने हाथों कुछ ऐसे काम हो जाएँ जिनसे लोगों के सपने और उम्मीदें ज़िन्दा रहें।

कई साल पहले लिखे आपके खत में भी यही उम्मीद तारी थी।

एक बार फिर, खत के लिए बहुत-बहुत शुक्रिया।

एलन पॉल बी ए स सी पी एच डी एम इंजिनियरिंग साइंस
रिसर्च लीडर एप्लाइड हाइपरसोनिक्स
एयर व्हीकल्स डिविज़न
डीएसटीओ - ब्रिसबन

(लैटर्स ऑफ नोट से साभार)



चित्रः अतनु राय

मेरी माँ

अजेन्द्र सिंह
चित्रः अतनु राय



होश सम्भालने से पूरे बचपन तक मैंने अपने आसपास केवल अपनी माँ को देखा। मेरी माँ ही मेरा इकलौता रिश्ता थीं। मेरा परिवार थीं। उनके अलावा कोई एक भी नहीं था जिसे मैं कहने को भी अपना कह पाता। एक अकेली औरत का मैं एक अकेला बच्चा।

हम हरिद्वार शहर के बीचों-बीच सत्रह कमरों वाले एक बड़े-से बंगले में रहते थे। उसके दोनों तरफ घने पेड़ोंवाला बगीचा था। जहाँ मैं रोज़ घण्टों खेलता। घर के ज़्यादातर कमरे बन्द रहते थे। मुझे उधर जाने से भी डर लगता था। हम दोनों में से कोई भी उनमें नहीं जाता। पर रातों को मैं बिस्तर पर अकेला पड़ा माँ को एक से दूसरे कमरे में जाते हुए सुनता। मैं उनके लौटने का चुपचाप इन्तज़ार करता। वो देखती रहतीं कि उन कमरों में कोई छुपा तो नहीं है। वो एक कमरे की बत्ती बुझातीं तो दूसरे की जला देतीं ताकि बाहरवालों को लगे कि इस घर के हर कमरे में लोग रहते हैं।

पिता, हिरण और भालू...

घर के बीचों-बीच ऊँची छतवाली बहुत बड़ी बैठक थी। फर्श पर एक बहुत बड़ी कालीन बिछी रहती थी। दीवारों पर पेंटिंग्स के बीच हिरनों और एक भालू का सिर टँगा था। ये सब

मेरे पिता की बहादुरी के शिकार थे। मेरे पिता! एक सजीले, 40-45 साल के सिख की तस्वीर बैठक की एक दीवार पर टँगी थी। मुझे इतना ही बताया गया था कि तस्वीरवाला ये आदमी मेरे पिता हैं। मेरे जन्म से कुछ महीने पहले एक कार दुर्घटना में वे मारे गए थे। वैसे पिता की तस्वीर से ज़्यादा रोचक मुझे वो हिरन और भालू लगते थे। मैं खेलता रहता और हिरन, भालू और पिता मुझ पर हमेशा नज़र रखते। मैं डरता कि इनमें से कोई कभी ज़िन्दा न हो जाए। खासतौर पर भालू।

मैं उस तस्वीर को घण्टों घूरा करता। मैं बड़ा होकर उस तस्वीरवाले आदमी की तरह बिलकुल नहीं दिखना चाहता था। अपने सुन्दर से चेहरे पर इतने सारे बाल उगाने में मेरी कतई दिलचस्पी नहीं थी।

वैसे, मुझे तमीज़ सिखाने के लिए एक मेरी माँ ही काफी थीं। वो किसी पिता से कम सख्त न थीं। ऐसे में मैं क्यों चाहता कि मेरी ज़िन्दगी में एक पिता भी आ जाएँ। और मुझसे पूछते फिरें कि मैं क्या कर रहा हूँ और अपनी ज़िन्दगी का क्या करने वाला हूँ। इस बात को सोचने में भी डर लगता है।

माँ ने सब देखा...

माँ मुझे बहुत प्यार करती थीं। मुझे यह प्यार करनेवाली माँ बहुत अच्छी लगतीं। पर अकेली महिला होने की असुरक्षा उन पर तारी रहती। वो सत्तर के दशक की एक खूबसूरत, उच्च मध्यम वर्गीय महिला थीं। पैंतीस की उम्र में ढेर-सा कर्ज़ उनके सिर छोड़ उनके पति चल बसे थे। मेरी माँ को इस कर्ज़े या पति के व्यापार के बारे में कुछ भी पता नहीं था। उनकी दुनिया में ये सारे बदलाव अचानक आ गए थे। कई बार वो अपने बगीचे से अमरूद तोड़कर फलवाले को बेचतीं ताकि रात के मेरे दूध का इन्तज़ाम हो सके। आज 42 की उम्र में मैं इस बात को पूरी तरह समझ पाता हूँ। एक सीधी-सादी घरेलू औरत से वो एक आत्मनिर्भर, निडर उद्यमी बन गई थीं। उन्होंने इस दुनिया में अपनी शर्तों पर जीना सीख लिया था। घर के चारों तरफ दुकानें खुल गई थीं। उनका किराया, देख-रेख सब वो सम्भालतीं। उन्होंने व्यापार की बारीकियाँ सीखीं, खरीदारों और मुनाफाखोरों से सौदा करना सीखा और हरिद्वार जैसे छोटे शहर में अपने लिए जगह बनाई जो उस ज़माने में आम बात नहीं थी।

वो हर सुबह मेरे लिए हाफ फ्राई एग बनातीं, मुझे चम्मच से खिलातीं, मुझे स्कूल के लिए तैयार करतीं, स्कूल बस में बिठा कर देर तक हाथ हिलातीं। मैं जानता था कि उनकी दुनिया की धुरी मैं था। और मेरी ज़िन्दगी में भी बस वो ही थीं। मैं उनके बिना एक पल भी गुज़ारने की बात सोच नहीं सकता था। मैं अकेले में रोता कि एक दिन वो नहीं रहेंगी तो...। मैं उन्हें दिन भर की बातें बताता। वो रोज़ मेरी एक-एक किताब, कॉपी, डायरी जाँचतीं मेरी पढ़ाई-लिखाई-होमवर्क सब पर उनका पूरा ध्यान रहता। जब भी वो मुझे ठीक से पढ़ाई न करता पातीं तो बहुत मारतीं। मेरा कोई झूठ पकड़े जाने पर भी पिटाई होती। पर सबसे ज़्यादा धुनाई तब होती जब मैं उनकी किसी एक भी उम्मीद पर खरा नहीं उतरता। मेरे पास गलतियाँ करने की गुंजाइश बिलकुल भी नहीं थी।

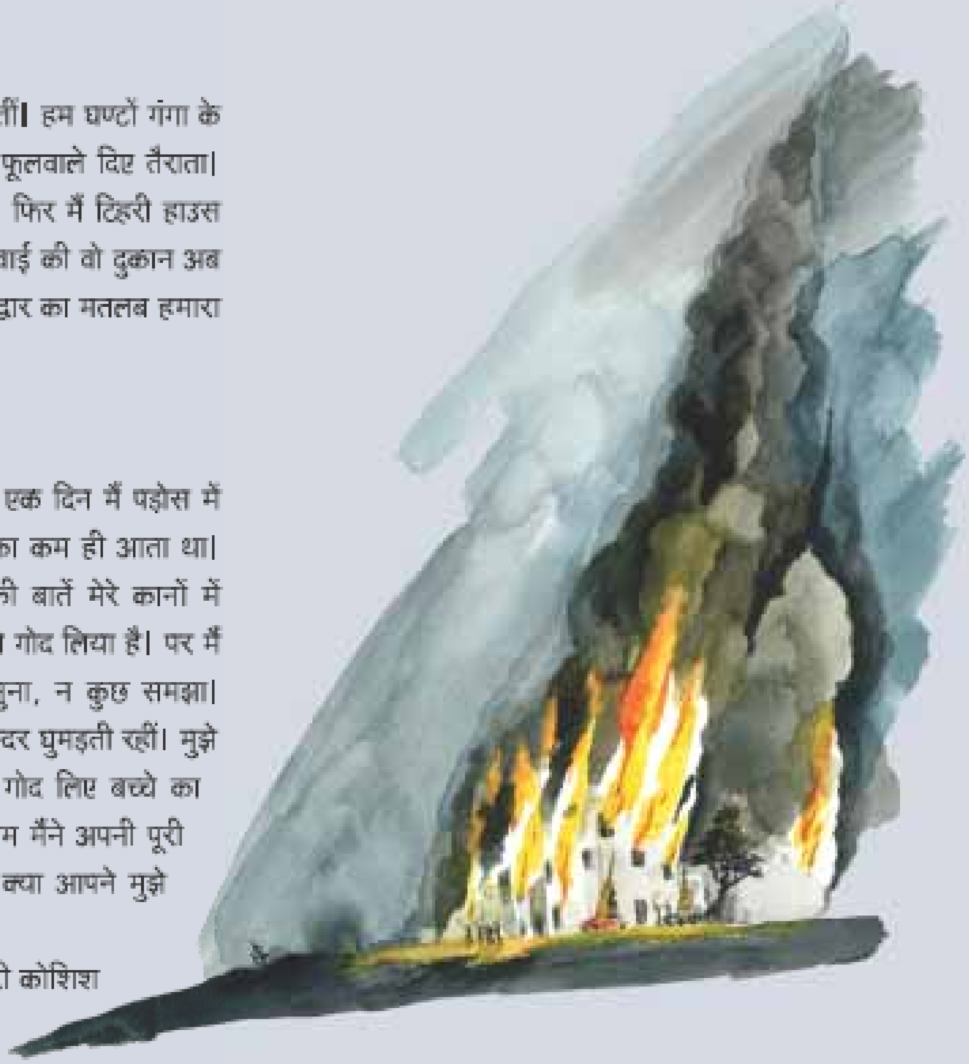
उम्र के साथ मेरे भीतर उनके लिए जो प्यार था, वो कई बार डर में बदल जाता। पर मुझे यकीन था कि ऐसा हर घर में होता होगा।

टिहरी हाउस का समोसा...

लगभग हर शाम मैं उन्हें किसी सुन्दर साड़ी में तैयार होता देखता। यह मेरे लिए बहुत खुशी का मौका होता। जब वो तैयार होने को होतीं मैं एकदम समझदार बच्चे की तरह, रिक्शा तय करने के लिए नीचे भागता। रिक्शेवाले से मोल-भाव करता। बिना जाने कि इसे मोल-भाव कहते हैं। मुझे सिर्फ इतना पता था कि माँ ने कहा है, "रिक्शा पाँच रुपए में तय करना है।"

फिर ऊपर जाकर माँ को आवाज़ लगाता। नीचे से आवाज़ लगाना उन्हें पसन्द नहीं था। वो आतीं और हम रिक्शे में बैठ जाते। वो हमेशा शान्त, स्थिर होकर बैठतीं। गलती से भी

किसी व्यक्ति से उनकी नज़रें नहीं मिलतीं। हम घण्टों गंगा के किनारे बैठे रहते। चुपचाप। मैं गंगा में फूलवाले दिए तैराता। हम साथ-साथ उन्हें बहता देखते रहते। फिर मैं टिहरी हाउस से अपना पसन्दीदा समोसा खाता। हलवाई की वो दुकान अब भी मेरे सपनों में आती है। मेरे लिए हरिद्वार का मतलब हमारा साथ है।



फिर एक दिन...

मैं उस वक्त कोई 6 साल का था। एक दिन मैं पड़ोस में बच्चों के साथ खेल रहा था। ऐसा मौका कम ही आता था। खेलते-खेलते वहाँ बैठी कुछ औरतों की बातें मेरे कानों में पड़ीं। वो कह रही थीं कि मुझे मेरी माँ ने गोद लिया है। पर मैं उनके सामने ऐसे रहा जैसे न कुछ सुना, न कुछ समझा। लेकिन घर आकर वही-वही बातें मेरे अन्दर घुमड़ती रहीं। मुझे फिल्मों के सीन याद आते रहे जिनमें गोद लिए बच्चे का ज़िक्र होता था। कुछ दिन बाद एक शाम मैंने अपनी पूरी हिम्मत बटोरकर माँ से पूछा, "मम्मा, क्या आपने मुझे गोद लिया है?"

मैंने देखा, वो सामान्य दिखने की पूरी कोशिश कर रही थीं। पर अन्दर तक हिल गई थीं। उन्होंने झटके-से कहा, "नहीं! झूठ है ये! कौन कहता है? किसने कहा? मुझे लेके चल उसके पास?"

उन्होंने बिना रुके हज़ारों बातें मुझे यह जताने के लिए धड़ाधड़ कह दीं कि मैं उनका अपना जाया हूँ। लेकिन उनके चुप होते-होते मैं जान चुका था कि मैं गोद लिया हुआ हूँ। मेरी नज़र में अब यह मेरी पहचान का नया हिस्सा था।

साल बीतते गए। मैं बड़ा होता गया और माँ और मेरे बीच दूरी बढ़ती गई। मैं घर में इतना ज़्यादा आज्ञाकारी था कि बाहर उसका ठीक उलट होना मेरी मजबूरी बन गई थी। यह मेरा विद्रोह करने का तरीका था या ज़िन्दा रहने का, पता नहीं!

मैं उन्हें अब भी बहुत प्यार करता था। शायद पहले से ज़्यादा ही। अब इसमें एक कृतज्ञता का भाव भी जुड़ गया था। मैं उनका शुक्रगुज़ार था कि उन्होंने मुझे पाला-पोसा और वो ज़िन्दगी दी जो मुझे वैसे नहीं भी मिल सकती थी।

फिर एक और दिन

फिर वो दिन आया जिसने सब कुछ बदल दिया। वो एक आम दिन-सा दिन था। मैं स्कूल से वापस आया। खाना खाकर कुछ देर सो गया। फिर पढ़ाई की। शाम होते-होते खबर आई कि प्रधानमंत्री की उनके सिख बॉडीगार्ड ने हत्या कर दी है। माँ टीवी देख रही थीं। वो दुखी मन से टीवी के सामने लेट गईं और उन सरदारों को कोसने लगीं।

(पेज 47 पर जारी)

चोर पुलिस

असगर वजाहत
चित्रः अतनु राय



हम लोगों के एक दूर के रिश्तेदार अनवर पढ़ लिख नहीं सके। सातवीं-आठवीं पास करने के बाद काम की तलाश में लग गए। उस ज़माने में होमगार्ड की भर्ती हुआ करती थी। अनवर भी भर्ती के दिन पुलिस लाइन पहुँच गए और होमगार्ड में उनका सिलेक्शन हो गया।

अनवर की एक रात किसी पुलिस के सिपाही के साथ ड्यूटी लगी। रात में गश्त के दौरान अनवर ने देखा कि एक चोर किसी मकान में सेंध लगा रहा है। अनवर ललकार लगा कर चोर की तरफ दौड़ने ही वाले थे कि सिपाही ने अपने हाथ से उनका मुँह बन्द कर दिया।

सिपाही अनवर को लेकर दीवार के पास आया और सेंध के दोनों तरफ दोनों चुपचाप बैठ गए। चोरी-वोरी करने के बाद चोर सेंध से जैसे ही बाहर निकला सिपाही और अनवर ने उसे पकड़ लिया। चोर के पास एक गठरी थी जिसमें उसने चोरी का सामान बाँध रखा था। सिपाही ने चोर से गठरी छीन ली और चोर से कहा, "भाग जा साले नहीं तो कई साल जेल में सड़ेगा।" चोर नौ दो ग्यारह हो गया। सिपाही ने गठरी खोलकर देखी। अच्छा खासा माल था। सिपाही ने अनवर को एक बड़ी शिक्षा देते हुए कहा, "देखो, चोर को चोरी करने से पहले कभी नहीं पकड़ना चाहिए।"

टूटे दाँत का क्या हुआ?

चन्द्रमणि वर्मा
चित्रः तापोषी घोषाल

कल से स्कूल खुल रहे थे। मैं बेसब्री से अपने दोस्तों से मिलने का इन्तज़ार कर रही थी। रात को सब खाना खाने बैठे। मैं लगातार स्कूल की बातें करते-करते खा रही थी। अचानक मेरा दाँत टूटकर मुँह में आ गया। वो कई दिनों से हिल रहा था। मैंने झटपट मुँह से निवाला निकाला। साथ में मेरा छोटा-सा दाँत भी था। माँ ने उसे उठाया और रसोई में चली गईं। मुझे डर लगा कि कल स्कूल में सब मेरा मज़ाक उड़ाएँगे। माँ शायद समझ गईं। बोलीं, "तुम्हारा दाँत चूहा लेकर चला गया।"



अगले दिन मैं स्कूल गई। जैसा मैंने सोचा था वैसा वहाँ हुआ नहीं। मेरी दोस्त रीना ने पूछा, "तुम्हारा दाँत चूहा ले गया?" मैंने हाँ में सिर हिलाया। मुझे समझ नहीं आया कि इसको कैसे पता चला कि चूहा ले गया है। मैंने उससे पूछा, "सबके दाँत चूहा ही क्यों ले जाता है। कोई और क्यों नहीं ले जाता। और चूहा इतने सारे दाँतों का करता क्या होगा? उन्हें रखता कहाँ होगा? क्या शेर के दाँत भी चूहा ही लाता है? और बिल्ली के? चूहे के दाँत कौन ले जाता होगा?"

नदी को चुनौती देता एक पेड़

सी. एन. सुब्रह्मण्यम



मुझे लगता है कि छोटे शहरों में पेड़ों से लगाव सहज ही हो जाता है। इसका ठीक-ठीक कारण बताना तो मुश्किल है। पर शायद लोगों के पास समय ज़्यादा होता है। आते-जाते पेड़ों पर नज़र पड़ती रहती है। और वो मन में बस जाते हैं। पर कुछ पेड़ ज़बरदस्त तरीके से हमें अपनी ओर खींचते हैं।

होशंगाबाद के सदर बाज़ार के पास वाली नदी किनारे की पट्टी आज सीमेन्ट-कॉन्क्रीट के घरों से पटी है। एकदम नदी तक। पैंतीस साल पहले जब मैं यहाँ आया था, तो नदी के पास कोई घर नहीं होता था। बस बबूल की झाड़ियाँ और उन्हें चरती बकरियाँ होती थीं। झाड़ियों के बीच से हम नदी तक पहुँचते थे। नदी के ऐन किनारे पर एक बड़ा और पुराना इमली का पेड़ होता था। उसके नीचे बैठकर नदी को देखना अद्‌भुत अनुभव होता था। शान्त सुनसान जगह, बहती जाती नदी और पीठ को सहारा देता पेड़।

धीरे-धीरे समझ आया कि इमली का यह पेड़ बड़ी नाज़ुक जगह पर खड़ा है। उसके एक तरफ नर्मदा नदी थी और दूसरी तरफ एक नाला आकर नदी से मिलता था। पेड़ उस संगम पर खड़ा था। साल दर साल उस पेड़ के चारों तरफ की मिट्टी कटती जा रही थी। पेड़ की जड़ें झाँकने लगी थीं। पेड़ के तीन तरफ पैर रखने तक की जगह नहीं बची थी। तो बकरियाँ भी वहाँ कैसे जातीं! उस तरफ की शाखें काफी नीचे तक फैल गई थीं। जड़ से भी नीचे तक।

कुछ और बरसातों के बाद तो पेड़ की बची तरफ की भी मिट्टी कटने लगी थी। लगने लगा था जैसे पेड़ एक छोटे-से टीले पर खड़ा है। उसकी जड़ों का रेशा-रेशा मिट्टी को जकड़े हुए था। पेड़ के तेवर और जड़ों की कसावट को देखकर लगता था कि जो भी हो वह बची मिट्टी को बाँधकर अनन्त काल तक खड़ा रहेगा।

हम इतने आश्वस्त हो गए थे कि कभी सूझा ही नहीं कि इस पेड़ को हमारी मदद की ज़रूरत है। हम उसके चारों ओर पत्थर जमाकर मिट्टी के कटाव को रोक सकते थे। लेकिन हमने कोई पहल नहीं की। इस बात का आज बेहद अफसोस है। कुछ साल बाद तेज़ बारिश हुई। नदी में इतना सारा और इतनी तेज़ पानी आया कि उस पेड़ को बहाकर ले गया। अब उसकी एक फोटो ही हमारे पास बची है...

एक छोटी-सी कहानी

एक पत्ते पर धूप रखी थी
एक पत्ते पर पानी
धूप ने सारा पानी सोखा
हो गई खतम कहानी





सिन्धु घाटी सभ्यता 2600-1300 पूर्व

सुभद्रा सेनगुप्ता
चित्र: तापस गुहा

सैकड़ों सालों से सिन्ध के रेगिस्तान में ईंटों का एक बड़ा-सा ढेर लगा हुआ था। आज यह जगह पाकिस्तान में है। वहाँ के लोग इसे मोहनजोदड़ो बोलते थे। यानी मरे हुओं का टीला। तब किसे पता था कि कभी यहाँ भारत की सबसे पुरानी सभ्यता बसती थी। लोगों ने इन ईंटों से अपने घर बनाए। उन्नीसवीं सदी में रेलवे लाइन बनाने के लिए दो अँग्रेज़ इंजीनियर इन ईंटों को भर-भरकर ले गए। जल्द ही इन 4000 साल पुरानी ईंटों पर लाहौर से कराची जानेवाली रेलगाड़ियाँ दौड़ने लगीं। सिन्धु घाटी सभ्यता के शहरों की खोज से भारत का इतिहास 2000 सालों से ज़्यादा पीछे चला गया।

इक अनूठी जगह

1850 में पुरातत्त्व विभाग के संस्थापक एलेक्ज़ेंडर कनिंघम ने हड़प्पा के इस ईंटों के ढेर को खोजा। यहाँ उन्हें एक छोटी-सी पत्थर की सील मिली। उस पर कुछ उकेरा हुआ था। जब टीलों की खुदाई शुरू हुई तो उन्हें पूरे-पूरे शहर मिले। जहाँ सड़कें थीं। घर थे। और नालियों का एक पूरा तंत्र था।

खुदाई में मिले दो सबसे बड़े शहर थे - रावी नदी के किनारे हड़प्पा और सिन्धु नदी के किनारे मोहनजोदड़ो। 1920 में इनकी खुदाई हुई। राखाल दास बैनर्जी, दयाराम साहनी और माधोस्वरूप वत्स जैसे भारतीय पुरातत्वविदों ने रेगिस्तान की झुलसानेवाली धूप में मिट्टी के बरतन, ज़ेवर, धातु के सामान और नक्काशीदार सीलें ढूँढीं।

एक जैसे शहर

उन्हें ये देखकर हैरानी हुई कि सभी शहर बिलकुल एक जैसे दिखते थे। प्रमुख सड़कें सीधी बनी थीं। सभी घरों के डिज़ाइन एक जैसे थे। बीच में खुला आँगन और उसके चारों ओर कमरे। शहर के एक सिरे पर एक चारदीवारी थी जिसमें शायद राजा रहता था। इतिहासकार इसे 'सिटाडेल' कहते हैं।

सभी घरों की ईंटों का साइज़ बराबर था - 7x14x28 सेंटीमीटर। सभी शहरों की दीवारों की ईंटों का साइज़ 10x20x40 सेंटीमीटर था। शहर एक-दूसरे से सैकड़ों किलोमीटर दूर बसे थे। यहाँ नालियों की बढ़िया व्यवस्था थी।





नालियाँ सीवर से जुड़ी थीं। सीवर बड़े टेराकोटा पाइप से बने थे। सड़कों पर बड़े कूड़ेदान थे। हो सकता है कि तब के शहर आज के शहरों से ज़्यादा साफ रहते हों।

वो खाते क्या थे?

रसोई के बर्तनों में मिले अनाज के दानों और जानवरों की हड्डियों से अन्दाज़ लगाया कि वो क्या-क्या खाते थे। गेहूँ और चावल खूब मिला। यानी वो रोटी खाते होंगे। और जौ का दलिया भी। वे बाजरा, दालें, तरबूज़, मटर, खजूर, अँगूर, देसी चना, राजमा और लहसुन भी उगाते थे। हिरन, सुअर, जंगली सुअर, भेड़, कछुए और मछलियों की भी हड्डियाँ मिली हैं। एक घड़ियाल की भी हड्डी मिली है। उसे कैसे पकड़ा होगा? और क्या उसकी रसेदार सब्ज़ी बनाई होगी?



आओ, संग-संग नाचें

1926 में मोहनजोदड़ो में काँसे की एक छोटी-सी मूर्ति मिली है। उसका एक पैर ऐसे रखा है जैसे वो पैर से थाप दे रही हो। जैसे, वो कहीं जाने को ही है। खास तरह से बाल बनाए हुए। पूरे हाथ भर चूड़ियाँ पहने हुए। पुरातत्वविद् जॉन मार्शल ने उसे नाम दिया - नाचने वाली गुड़िया।



सजना-सँवरना

उन दिनों लोग साड़ी या धोती की तरह कपड़ा पहनते थे। इसका एक सिरा कमर पर बँधा होता था और दूसरा शरीर के ऊपरी हिस्से पर लिपटा होता था। महिलाएँ लम्बी चोटियाँ बनातीं, जूड़े और बालों के छल्ले बनातीं। जौहरी मोतियों की सुन्दर मालाएँ बनाते। इन्हें दूसरे देशों में भी बेचा जाता। ये मालाएँ इराक में मेसोपोटामिया के पुराने शहरों में भी मिली हैं।

चमकते हुए काँसे के गोलाकार शीशे भी मिले हैं। आदमी हज़ामत बनाने के लिए उस्तरे का इस्तेमाल करते थे। मेकअप के डिब्बों में सूखे रंग मिले हैं। काजल, मेंहँदी और हरा-सफेद रंग भी मिला है। काजल और मेहँदी तो समझ आता है पर सफेद-हरे पेंट का क्या करते होंगे? कथकली नर्तकों की तरह चेहरा रँगते होंगे?

स्वीमिंग पूल/हमाम

पुरातत्वविदों को लगता है कि लोग यहाँ धार्मिक स्नान करने आते होंगे। जैसे, आज भी लोग पूजा करने से पहले नदियों और मन्दिरों के हौज में डुबकी लगाते हैं। यह एक विशाल ताल है। 14.5x7 मीटर लम्बा-चौड़ा। इसमें पानी तक जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं। यह पूरी तरह से वॉटरटाइट है। मोहनजोदड़ो के कुशल इंजीनियरों ने ईंटों को एकदम सटा कर लगाया फिर उसे डामर (वही जिससे हम सड़क बनाते हैं।) से ढँक दिया। हर घर में एक बाथरूम था जिसका पानी पाइप के ज़रिए नालियों में निकलता था।

समन्दर पार

वो मध्य पूर्व के साम्राज्यों के साथ व्यापार करते थे। वहाँ से मिट्टी के बर्तन, गहने और सील मिली हैं। यह सामान ज़मीन के रास्ते से अफगानिस्तान और ईरान से होते हुए जाता था और समुद्र के रास्ते गुजरात के लोथल बन्दरगाह से भी जाता था। लोथल में समुद्र तट पर एक ईंटों का चबूतरा देखा जा सकता है। यहाँ जहाज़ों से सामान चढ़ता-उतरता होगा।

पर व्यापार किन चीज़ों का होता था? कपास को बुनकर कपड़ा पहले-पहले भारत में ही बना था। बुने कपड़ों के हम सबसे बड़े निर्यातक थे। पुराने भारतीय कपड़ों की कतरनें दुनिया के कई हिस्सों में मिली हैं। इन पर बारीक बुनाई, छपाई और कढ़ाई की हुई है। सिन्धु घाटी के गहने बहुत कीमती थे। ये मेसोपोटेमिया के राजाओं की कब्रों में भी मिले हैं। इनमें चाँदी में जड़े टरकोइज़ (फिरोज़ा) और लापिस लज़ूली (एक किस्म का नीला पत्थर) भी शामिल हैं। व्यापारी मिट्टी और धातु के बर्तन भी बेचा करते थे।

माथापच्ची

दस सिक्कों को पाँच सीधी लाइनों में इस तरह जमाओ कि हर लाइन पर चार सिक्के हों। इसके एक से अधिक तरीके हो सकते हैं।



एक बार खुदाई में कुछ सिक्के मिले। वहीं काम कर रहे इंजीनियर ने उन्हें देखा और कहा कि इस पर 30 ईसा पूर्व लिखा है। मज़दूर की लड़की ने उसको देखा और कहा कि ये इतने पुराने नहीं हैं। उसे कैसे पता चला?



आज के अतीत

किताब – आज के अतीत
लेखक – भीष्म साहनी

गुरुकुल की शिक्षा-दीक्षा का ही प्रभाव रहा होगा कि एक दिन बलराज मुझसे बोले। हम लोग गुरुकुल की ओर जा रहे थे, "सुन।"

"क्या है?"

"मेरे पीछे-पीछे चल। अब से हमेशा, मेरे पीछे-पीछे चला कर।

"क्यों?"

"क्योंकि तू छोटा भाई है। छोटे भाई साथ-साथ नहीं चलते।"

मैं उसके मुँह की ओर देखने लगा।

"राम और लक्ष्मण कभी साथ-साथ नहीं चलते थे?"



"मैं लक्ष्मण नहीं हूँ।"

"तू मेरा छोटा भाई तो है।" और उसने मुझे धकेलकर पीछे कर दिया।

"और सुन।"

"क्या है?"

"आगे से मुझे बलराज मत बुलाया कर। मैं तेरा ज्येष्ठ भ्राता हूँ।"

"तो क्या बुलाया करूँ?"

"भ्राताजी। तू मुझे 'भ्राताजी' कहकर बुलाएगा। अब हो जा मेरे पीछे।"

जब हम आगे बढ़ चले तो बोला, "जब राम और लक्ष्मण दौड़ते भी थे तो आगे-पीछे। मैं तुम्हें उनके दौड़ने का ढँग सिखाऊँगा।"

मैं पहले तो उसके चेहरे की ओर देखता रहा, फिर बड़ी अनिच्छा से कहा, "अच्छा भ्राताजी!" मैंने यह हुक्म भी सह लिया और उसके पीछे हो लिया।

जब घर लौटने पर मैंने उसे 'भ्राताजी' बुलाया तो बहनें खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

कौवा चला हंस की चाल। बड़ी बहन ने कहा।

पर माँ ने कहा, "ठीक ही है। भ्राताजी ही बुलाए। कुछ तो सीखेगा। बड़े भाई को नाम से कौन बुलाता है?"

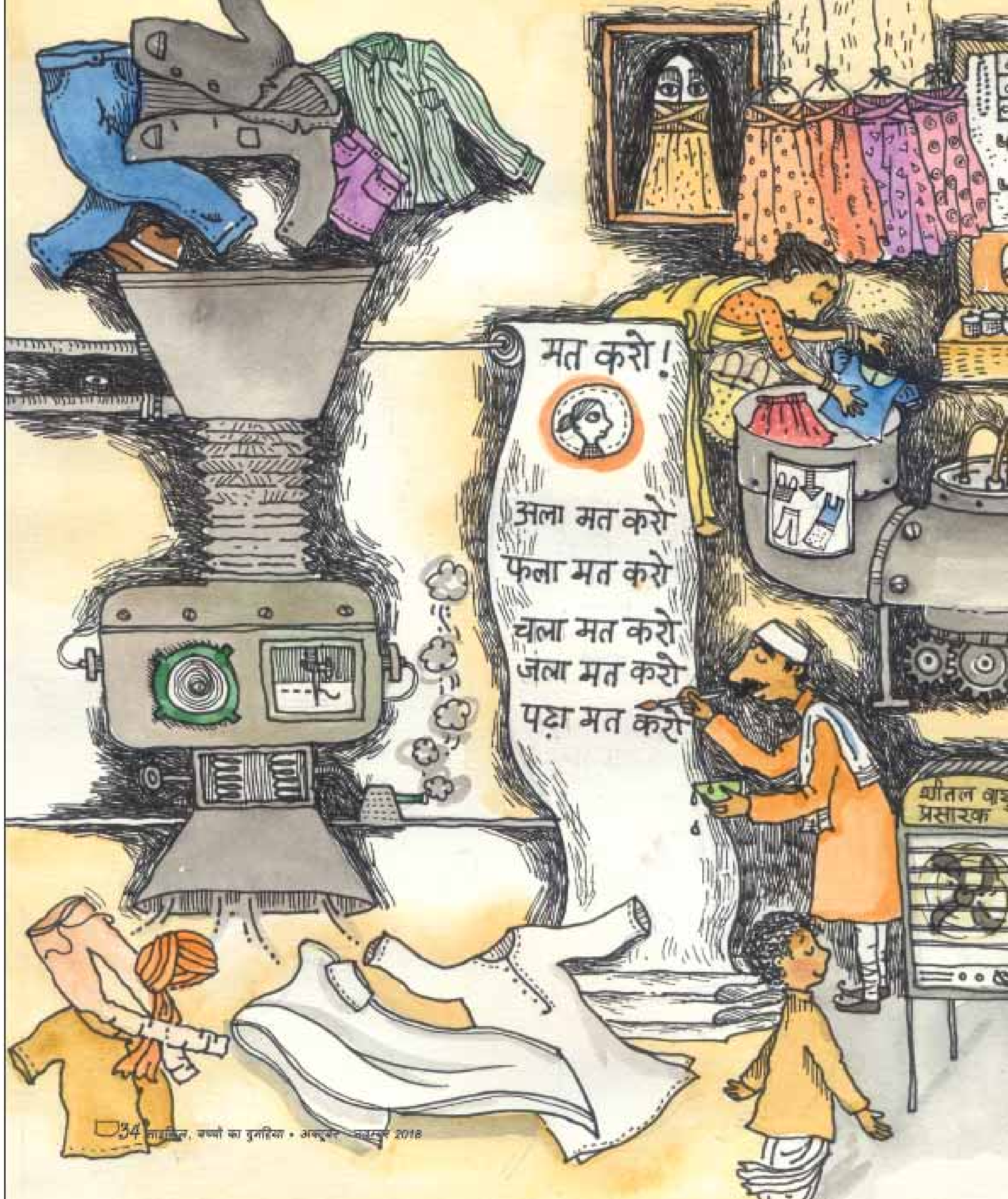
पर 'भ्राताजी' शब्द मेरे गले में अटकता था।

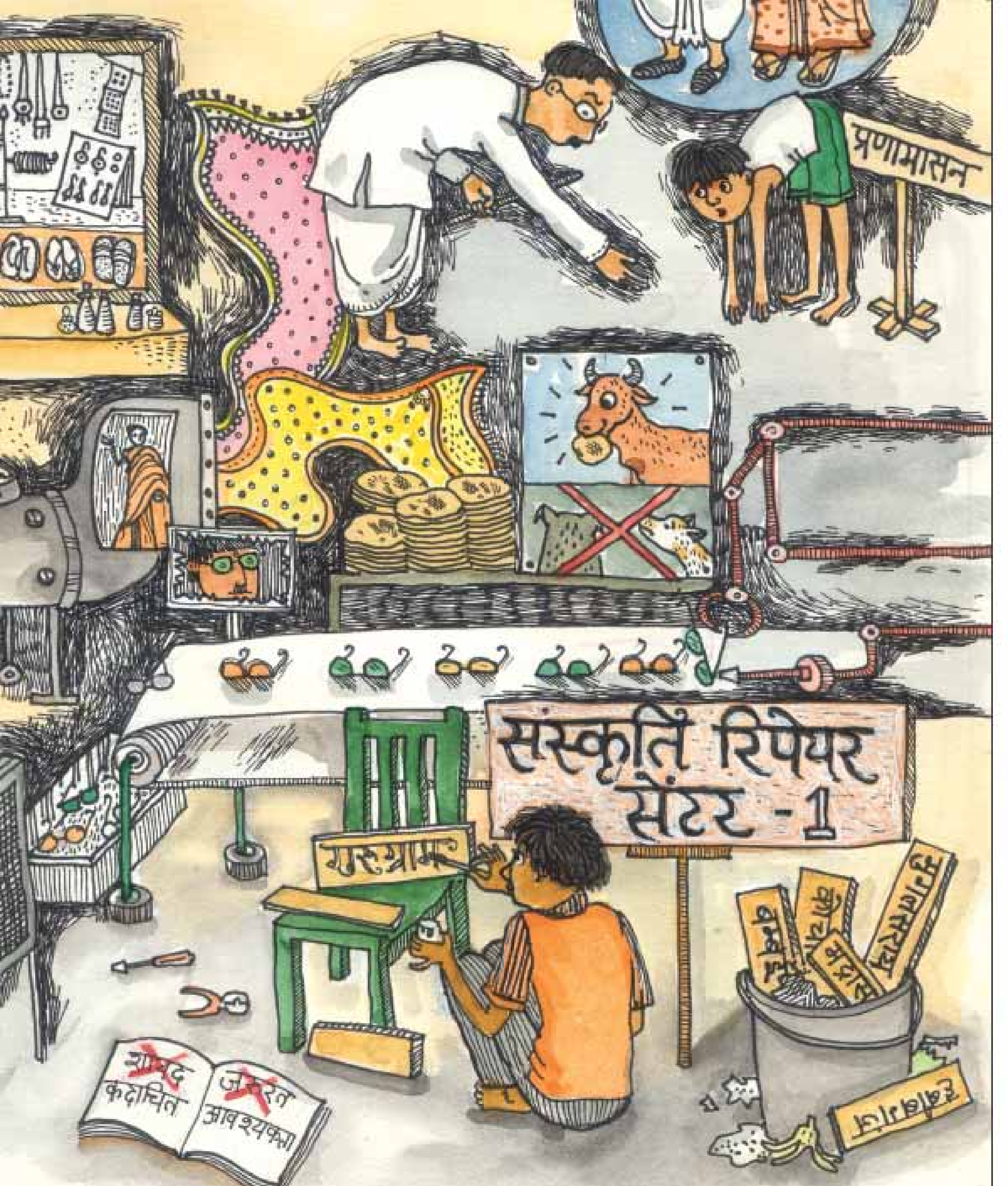
"मैं गुल्ली-डण्डा खेलने जा रहा हूँ। तू चलेगा 'भ्राताजी'?"

एक बार जब मुझे घर लौटने में देरी हो गई और बलराज मुझे बाँह से खींचते हुए घर ले जाने लगा तो मैंने बाँह छुड़ाते हुए गाली बक दी, "घर जाता है मेरा.... भ्राताजी!"

उस रोज़ भ्राताजी कहने पर भी मुँह में मिर्ची पड़ी।

चित्रः तापोशी घोषाल


मत करो!
जला मत करो
फला मत करो
चला मत करो
जला मत करो
पढ़ा मत करो
शीतल वा
प्रसारक


प्रणामासन
सस्कृति रिपेयर
सेंटर - 1
कदाचित
आवश्यकता

मेरी नज़र से...

हिरण्या

बहुत दिनों से मैं उन सब बातों को लिखना चाहती हूँ जिन्हें मैंने महसूस किया है। मेरे अपने अनुभव।

मैं बताना चाहती हूँ कि विभिन्न शारीरिक और मानसिक चुनौतियों का सामना करनेवालों को रोज़-रोज़ क्या-क्या झेलना पड़ता है। और उन चीज़ों के बारे में भी जो उनके जीवन को आसान या मुश्किल बनाती हैं।

कहाँ से शुरू करूँ?

यह समाज ही है जिसकी वजह से हमारी चुनौतियाँ हमारे ही लिए परेशानियाँ बन जाती हैं। पर यह भी उतना ही सच है कि हम अपने संघर्षों की राह लोगों के साथ से ही पार कर पाते हैं। हर चीज़ के दो पहलू होते हैं।

बहुत से लोग सोचते हैं कि हमारे साथ कुछ बहुत बुरा या अन्याय हुआ है। और हमारे लिए इन चुनौतियों का सामना करना मुश्किल होता होगा। हालाँकि यह सच नहीं है।

हम तो इनके बारे में सोचते तक नहीं हैं। बल्कि हमने इन्हें स्वीकार कर लिया है। और इन्हें खुद को सिद्ध करने के एक मौके की तरह देखते हैं। हम कुछ अच्छा करें और अपने चुने हुए काम में बेहतर करें।



हमारी चुनौतियों की लिस्ट लम्बी है - लिफ्ट या रैम्प वाले स्कूल और घर जिनमें हमारे हिसाब से बने टॉयलेट हों, आने-जाने के लिए सुविधाजनक वाहन...। चीज़ें बदल ज़रूर रही हैं पर धीमे-धीमे।

मेरी दसवीं की परीक्षा से एक दिन पहले मेरे दिमाग में यही घूम रहा था कि क्या मेरे लिए दूसरे स्कूल में और अपने कमरे तक पहुँचना आसान होगा! सभी स्कूलों में ज़रूरी प्रबन्ध नहीं होते हैं। मुझे वहाँ कोई परेशानी तो नहीं हुई पर ये सारे प्रबन्ध कुछ समय के लिए ही थे। जैसे, रैम्प पक्का नहीं था। लकड़ी या प्लाई के पट्टे से बना था। समझ आ रहा था कि वहाँ शारीरिक चुनौतियों वाला ऐसा कोई बच्चा नहीं था। यह कोई अनोखी बात नहीं। दिल्ली और उसके बाहर के लगभग सभी स्कूलों की यही स्थिति है। कुछ स्कूल तो ऐसे बच्चों को दाखिला ही नहीं देना चाहते। जबकि कुछ स्कूल इन्हें ले तो लेते हैं पर उन्हें लगता है कि इन बच्चों को अलग से पढ़ाया जाना चाहिए। और शायद दूसरों से कम भी। मुझे ये सारी बातें अजीब और कभी-कभी बेवकूफाना लगती हैं। जिन स्कूलों में हम जैसों को दाखिला मिल भी जाता है वो भी यह काम आधे-अधूरे ढँग से ही करते हैं। उनके पास बुनियादी ढाँचे की कमी होती है। रहने की जगह ठीक नहीं होती। बच्चे जो लिख नहीं पाते हैं उनको लिखने के लिए किसी की मदद नहीं मिलती। कुछ ही स्कूलों में हमारी ज़रूरतों का ख्याल रखा जाता है। जैसे, मेरा स्कूल है। हमारे लिए घूमने की भी जगहें सीमित हैं।

2014 में मैं ताजमहल गई। मुझे बाहर रहना पड़ा क्योंकि वहाँ हमारे लिए कोई इन्तज़ाम नहीं था। सोचिए, ताजमहल जैसी जगह पर भी कोई इन्तज़ाम नहीं था। देश भर की और टूरिस्ट जगहों की बात तो छोड़िए...। और तो और, विभिन्न शारीरिक चुनौतियों का सामना कर रहे लोगों को तो कई बार इन जगहों पर जाने भी नहीं दिया जाता।

मुझे यात्राएँ ज़्यादा पसन्द नहीं। मैं स्कूल पिकनिक और ट्रिप पर भी नहीं जाती। बस में चढ़ने की समस्या इतनी भारी है। और फिर पार्क आदि में हमारे लिए झूले वगैरह भी नहीं होते। वो हमारी पहुँच से दूर बने रहते हैं। जब मैं छठी में थी तो हमारी क्लास पिकनिक जा रही थी। मैंने बहुत हंगामा किया। मैं नहीं जाना चाहती थी। मेरी माँ, टीचर्स और दोस्तों ने बहुत ज़ोर दिया। वो मुझे खुश देखना चाहते थे। पर मैं नहीं गई। पूरा दिन लाइब्रेरी में बैठी रही। अगले दिन मेरे दोस्त ने कहा, "अच्छा हुआ तुम नहीं गईं। वहाँ तुम्हारे लिए कोई इन्तज़ाम नहीं था।"

जयपुर के बाज़ार और नैशनल साइंस म्यूज़ियम के ट्रिप भी तकलीफदेह थे। मुझे किसी तरह उठाकर म्यूज़ियम के अन्दर ले जाया गया। फिर भी उसके सभी हिस्से मेरे लिए खुले नहीं थे। सभी जगहों पर रैम्प और लिफ्ट नहीं थे।

पिछले साल मैं वृन्दावन के एक मन्दिर में गई। मेरा बिलकुल मन नहीं था। पर माँ की खुशी की खातिर जाना पड़ा। मन्दिर के अन्दर जाना मुश्किल था। कुछ लोगों ने मुझे मेरी व्हीलचेयर के साथ उठा लिया। इतना ऊपर कि मैं मूर्ति को ध्यान से देख सकूँ। तब तक तो ठीक था। जैसे ही हम आगे बढ़े, बहुत सारे लोग मेरे एकदम सामने आ गए। एक-दूसरे को धक्का देते हुए। बिना यह ध्यान दिए कि वो मेरे पैर कुचल रहे हैं। वे सभी एक दयालू और संवेदनशील भगवान को एक नज़र देखने के लिए उत्सुक थे!

मैं बाहर आई। थकान और खीज से रो पड़ी। सोचने लगी कि अगर भगवान हैं तो शायद वो चाहते हैं कि मैं समझूँ कि समाज में दोनों तरह के लोग हैं-सम्वेदनशील भी और

चित्रः तापोषी घोषाल

सम्वेदनहीन भी। इसलिए मुझे मज़बूत होना पड़ेगा। उसके बाद से माँ मुझे इन जगहों पर जाने के लिए ज़ोर नहीं देतीं। अब वो समझती हैं।

कुछ ऐसी भी जगहें हैं जहाँ मेरा अनुभव उतना खराब नहीं था।

ऐसा क्यों है?

इसके जवाब में लोग अकसर कहते हैं - ऐसे लोग कम नज़र आते हैं इसलिए लोग उन्हें और उनकी ज़रूरतों को भूल जाते हैं।

क्या आपको भी यह कारण सही लगता है?

मुझे तो यह समस्या लोगों की सोच और व्यवहार से जुड़ी ज़्यादा लगती है। सोचिए आप मुस्कराते हुए अपनी व्हीलचेयर पर जा रहे हैं। और कहीं से एक बेहूदा सवाल आ जाए आपकी तथाकथित कमज़ोरी पर। फिर आप कितने ही सशक्त हों, उनके सामने अजीब-सा महसूस करने लगते हैं। एक बेकार का दखल आपको 'अलग' होने की याद दिला जाता है। आप गुस्सा जाते हैं, पर बोलें भी क्या! कोई जवाब देना भी बेवकूफाना लगता है।

हम जैसे अलग तरह से सशक्त लोगों के बारे में कभी-कभी लोग इतनी अपमानजनक, शर्मनाक बातें ऐसे कह देते हैं जैसे अनजाने में मुँह से निकल गया हो। पर वे जिस तरह से और जिन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, वो बहुत बुरा लगता है। बहुत परेशानी होती है।

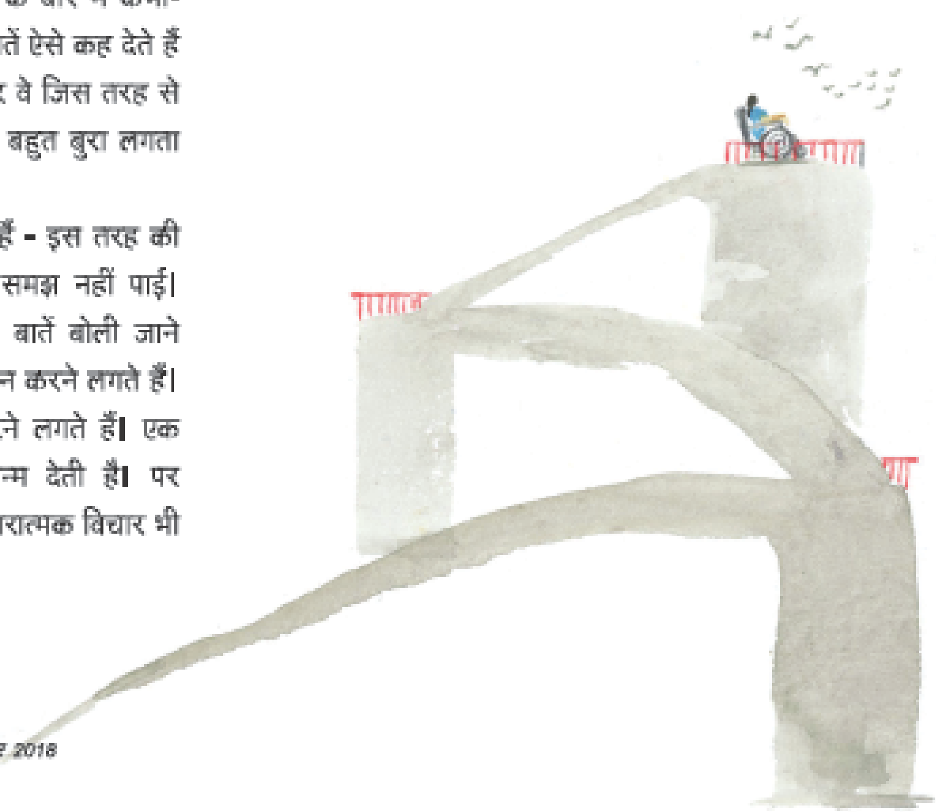
हम बाकी लोगों से पूरी तरह से अलग हैं - इस तरह की रटी-रटाई, दकियानूसी बातें मैं कभी भी समझ नहीं पाई। हमारे बारे में जब बार-बार इस तरह की बातें बोली जाने लगती हैं तो हममें से कई लोग इन पर यकीन करने लगते हैं। और फिर इसी के हिसाब से व्यवहार करने लगते हैं। एक चीज़ बहुत-से नकरात्मक विचारों को जन्म देती है। पर दिलचस्प है कि इनका विरोध करते हुए सकारात्मक विचार भी पनपने लगते हैं।

शारीरिक और मानसिक रूप से विकलांग लोगों के बारे में साहित्य और इतिहास में भी ज़िक्र नहीं मिलता। अगर वो साहित्य का हिस्सा बनते भी हैं तो घिसे-पिटे ढँग से। वही - असहाय, दुख, परेशानियों और दया - जैसे शब्दों के साथ। यह हमें कतई स्वीकार्य नहीं है। पर जब हम में से कोई अपनी बात लिखता है तो वो बेहद सामान्य, स्वाभाविक तरह से चीज़ों को देखते हैं। मैंने हाल ही में हेलन केलर की "द स्टोरी ऑफ माई लाइफ" पढ़ी। लोग उनसे प्रेरणा लेते हैं। तो हमसे भी ले सकते हैं।

मैं बताना चाहती हूँ कि हम लगातार जूझ रहे हैं। इसमें हमें हमारे करीबियों के प्यार और प्रोत्साहन से मदद मिलती है। वो अपने-अपने ढँग से हमारे जीवन में सहयोग करते हैं। वैसे ही जैसे हम दूसरों के जीवन में करते हैं।

चाहे हमें कितनी भी चुनौतियों का सामना करना पड़े, हमें कसौटी पर खरा उतरना अच्छा लगता है। इससे हमारा आत्मविश्वास बढ़ता है और हमारा अनुभव समृद्ध होता है।

और भी कई बाते हैं पर मैं उन्हें फिर कभी बताऊँगी। थोड़े और अनुभव करने और समझने के बाद।



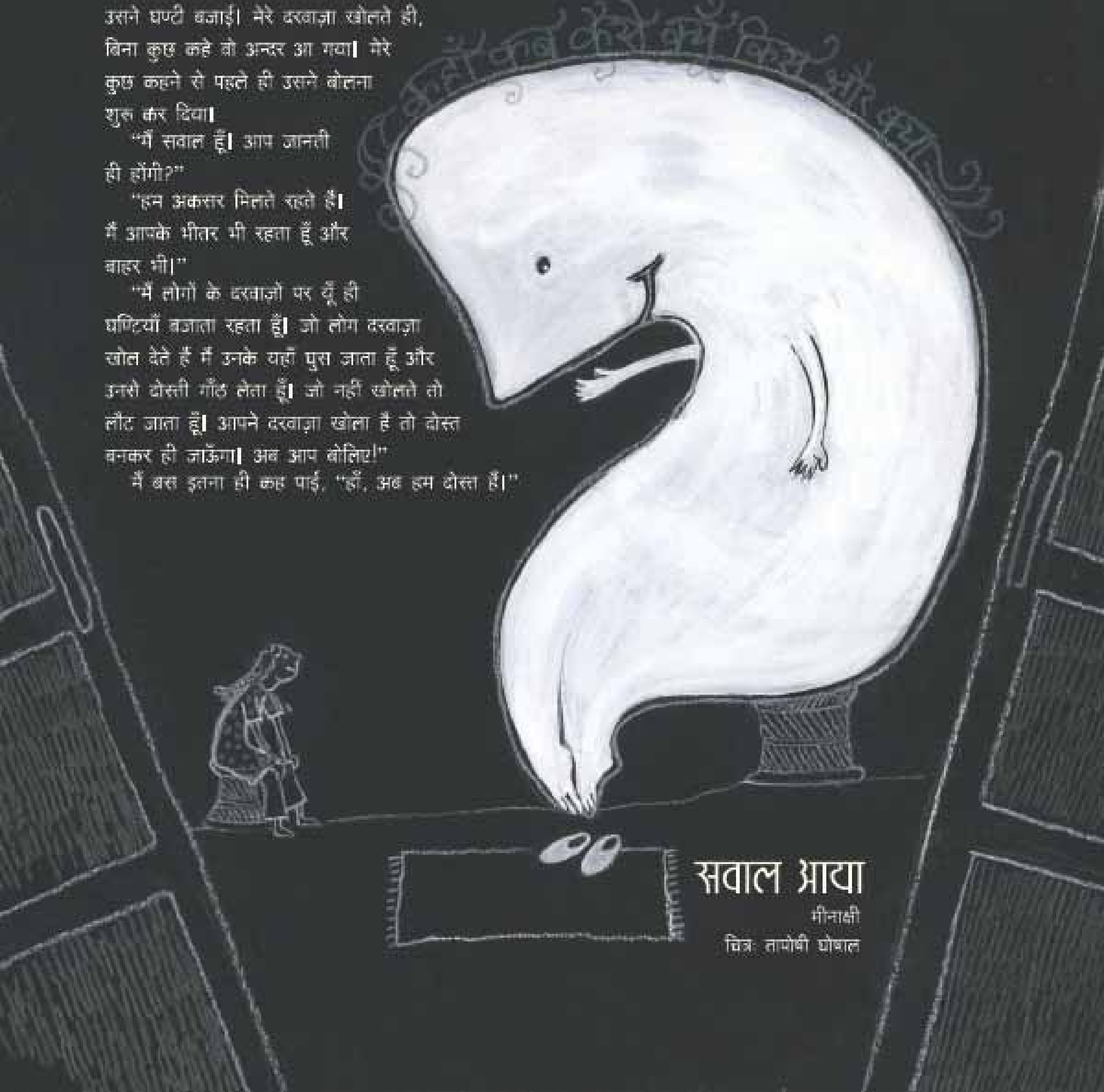
एक बार मेरे दरवाज़े पर एक सवाल आ खड़ा हुआ। उसने घण्टी बजाई। मेरे दरवाज़ा खोलते ही, बिना कुछ कहे वो अन्दर आ गया। मेरे कुछ कहने से पहले ही उसने बोलना शुरू कर दिया।

"मैं सवाल हूँ। आप जानती ही होंगी?"

"हम अकसर मिलते रहते हैं। मैं आपके भीतर भी रहता हूँ और बाहर भी।"

"मैं लोगों के दरवाज़ों पर यूँ ही घण्टियाँ बजाता रहता हूँ। जो लोग दरवाज़ा खोल देते हैं मैं उनके यहाँ घुस जाता हूँ और उनसे दोस्ती गाँठ लेता हूँ। जो नहीं खोलते तो लौट जाता हूँ। आपने दरवाज़ा खोला है तो दोस्त बनकर ही जाऊँगा। अब आप बोलिए!"

मैं बस इतना ही कह पाई, "हाँ, अब हम दोस्त हैं।"



सवाल आया

मीनाक्षी

चित्रः तापोषी घोषाल

चिड़िया की साँसें गिनना

अशोक भौमिक



एक वैज्ञानिक ज़िन्दा रहने के लिए ऑक्सीजन की ज़रूरत को समझा रहा है। जोसेफ राइट ने 1768 में इसी घटना को आधार बनाकर ये पेंटिंग बनाई। नाम दिया – चिड़िया और हवा पम्प का एक प्रयोग।

ज़रा इस चित्र को देखते हैं। एक वैज्ञानिक काँच का एक पारदर्शी गोल जार पकड़े हुए है। उसमें एक सफेद चिड़िया है। काँच का यह जार हवा के पम्प से एक नली के ज़रिए जुड़ा है। बीच में वैज्ञानिक के खड़े होने का अन्दाज़ देखो। बाईं ओर चार लोग खड़े हैं। दो लोग आपस में बात कर रहे हैं। चित्र के दाईं ओर पाँच लोग खड़े हैं। उनके खड़े होने के अन्दाज़ पर भी गौर करो। और उस बच्ची को देखो। उसे शायद इस प्रयोग में खास दिलचस्पी नहीं है। (यानी बच्चे चीज़ों में दिलचस्पी नहीं लेते यह समझ कम पुरानी नहीं है।) एक आदमी है जो पास खड़ी महिला को यह प्रयोग दिखाना चाहता है। पर शायद वह जानती है कि जैसे ही पम्प से हवा खींची जाएगी तो क्या होगा। मेज़ के करीब बैठे उस आदमी को भी देखो। इस प्रयोग में उसकी भी कोई दिलचस्पी नहीं दिखती। इन सब के पीछे एक छोटा बच्चा खड़ा है। वह रस्सी पकड़े है। इन्तज़ार में है कि संकेत मिलते ही रस्सी खींच दे।

इस चित्र के उजाले और अँधेरे ने क्या कमाल किया है। सभी चेहरों के भावों ने इसमें नाटकीयता पैदा कर दी है। रोशनी के फूटने के साथ-साथ पूरे चित्र की पृष्ठभूमि में फैले घने अँधेरे से यह दृश्य रहस्यमय भी तो हो गया है।

लगता है कि यह पेंटिंग न हो, कोई फोटोग्राफ हो। 1768 में यह चित्र बना। तब फोटोग्राफी की ईजाद नहीं हुई थी। कैनवास पर तैल रंग के इस्तेमाल का और भावों को चित्रित करने में चित्रकार के बेहद हुनरमन्द होने का पता चलता है। यह चित्र लगभग 72 इंच लम्बा तथा 94 इंच चौड़ा है। और आज यह टेट ब्रिटेन, लंदन में रखा है।

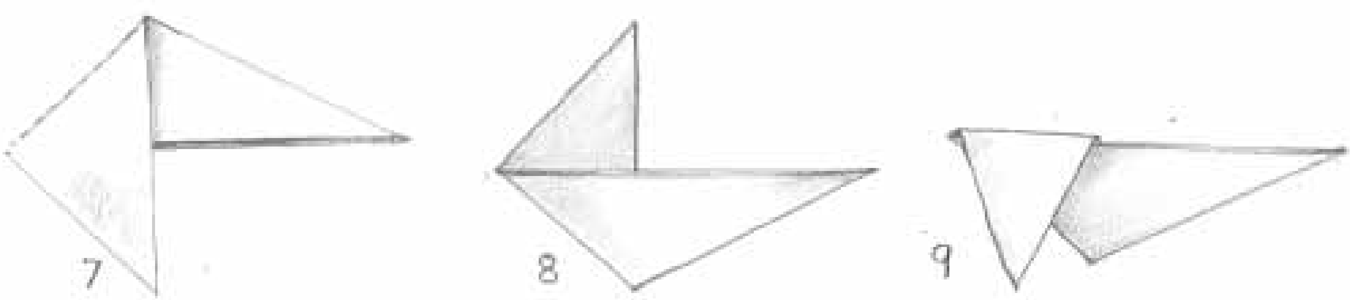
उँगली की डाल पर चिड़िया

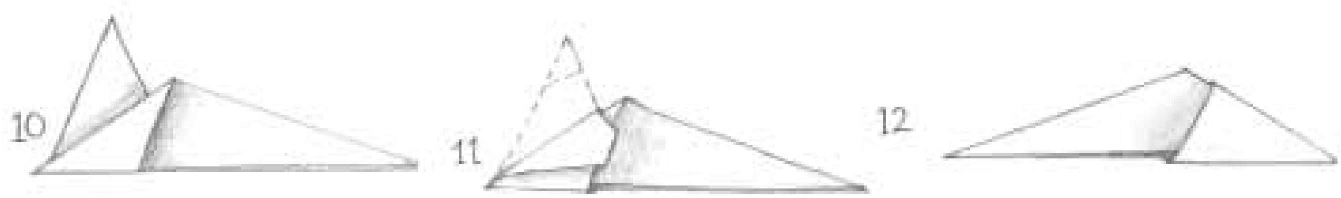
एक वर्गाकार कागज़, रंग, कैंची ले आओ।



चित्रों को देखते हुए कागज़ को मोड़ लो।

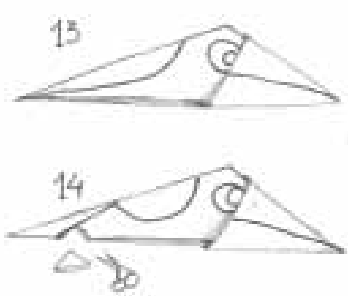






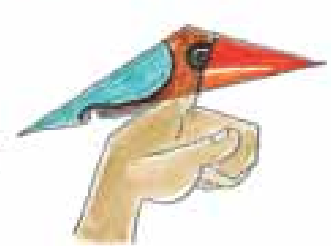
अब आँखें बना लो।

रंग के खेल से चाहे कौआ बनाओ या धनेश या फिर कोई और चिड़िया।





अपनी उँगली में पहनकर चाहे दोस्त को बुलाओ या कहानी बनाओ।



इकतारेवाला

शाश्वत गोपाल





रायपुर के ईदगाह भाटा के मैदान पर पहले शेर, चीते, भालू, हाथी, तोते, ऊँट जैसे अमुक कलाकारों की सर्कस लगा करती थी। लेकिन, अब यहाँ गन्दगी फैली है। इसके बीच-बीच में कुछ झोपड़ियाँ बन गई हैं।

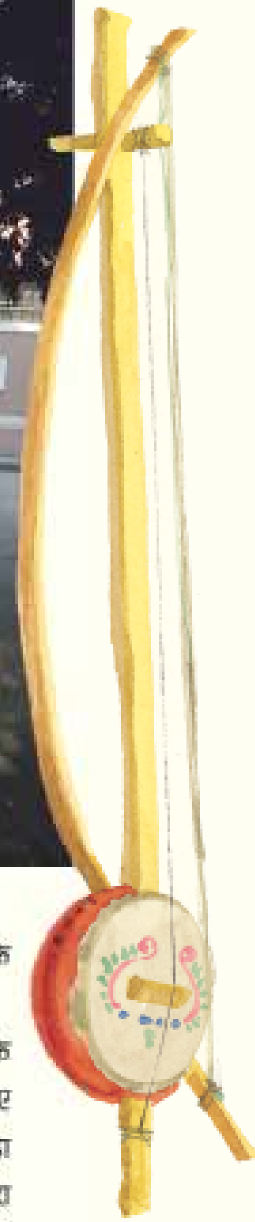
इनमें से एक झोपड़ी धनपत सिंह की है। वे इकतारा बनाते हैं। बजाते हैं। बेचते हैं। बहुत साल पहले एक दिन मैंने उन्हें अपने घर के सामने से इकतारा बजाते जाते देखा था। सिर पर गोल टोकरी रखे थे। उसमें कुछ बाजे थे। वे वैष्णव जन तो तेने कहिए...... बजा रहे थे। बच्चे उनके पीछे दौड़े। मैं भी दौड़ा और एक इकतारा ले आया। अपनी भाँजी के लिए। वो इकतारा बरसों हमारे साथ रहा और एक दिन टूट गया। लेकिन, मेरे मन से उस इकतारेवाले की स्मृति नहीं टूटी।

मैं भी दौड़ते-भागते इस रायपुर शहर में व्यस्त हो गया। चाहा तो कई बार कि वो इकतारा वाला मिल जाए। लेकिन नहीं मिला। कई साल बीत गए। त्यौहारों में लगनेवाले मढ़ई-मेले में भी घूमा। बहुत-से खिलौने वाले मिले। लेकिन, वे नहीं मिले। एक-दो बार लगा जैसे उसी इकतारे की आवाज़ सुनाई दी। मैं उस आवाज़ के पीछे गया भी, पर खाली हाथ लौटा। इस बीच कुछ सालों के लिए मैं नौकरी के सिलसिले में रायपुर से बाहर चला गया। एक बार नागपुर स्टेशन में इकतारावाली वैसी ही गोल टोकरी नज़र आई। जब तक उसके करीब पहुँचता, रेलगाड़ी पटरियों पर चल दी थी।

करीबन नौ साल पहले मैं रायपुर लौट आया। मैं दफ्तर अकसर अलग-अलग रास्तों से आता-जाता हूँ। मुझे घूमना अच्छा लगता है। भटकना अच्छा लगता है। पता नहीं क्यों उस इकतारा और उसे बेचनेवाले को मैं इतने सालों में भी भुला नहीं पाया। मेरे मन से इसकी स्मृति कभी अकेली नहीं आई। जाने क्यों जब उस इकतारावाले को सोचता तो महात्मा गाँधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानी, काबुलीवाला, दोनों याद आते।

एक बार मैं एक चाय ठेले के पास से गुज़रा। वहाँ मैंने वही गोल टोकरी देखी। ज़मीन पर रखी हुई। पर उसमें इकतारा नहीं थे। केवल एक बाँस का टुकड़ा और कुछ





छिपलियाँ थीं। मैं रुका। कुछ करता उससे पहले गाड़ियों के हॉर्न चीखने लगे। जाम लग गया था। सो मैं आगे बढ़ गया।

घर पहुँचने तक मैं उस गली में उस जगह तक पहुँचने के रास्ते को बार-बार दोहराता रहा। अगले दिन मैं दफ्तर के लिए जल्दी निकल गया। और उस चायवाले के ठेले के पास खड़ा हो गया। एक चाय पी और पूछा, "क्या यहाँ इकतारा बेचनेवाला कोई है?" उत्तर मिला, "हाँ। वे आते रहते हैं। ईदगाह भाटा मैदान में रहते हैं।" बिना देर किए मैं वहाँ पहुँच गया। पता चला कि वे तो सुबह-सुबह ही इकतारा बेचने निकल जाते हैं। मैं लौट आया...

कई दिनों तक मैं ईदगाह मैदान के सामने से आता-जाता रहा। रास्ता बदल-बदलकर आना-जाना मैंने बन्द कर दिया था। कई दिनों तक यह सिलसिला चला।

एक दिन मैं सदर बाज़ार सर्राफे से गुज़र रहा था। सुबह के करीबन दस बज रहे थे। ठण्ड के दिन थे। सोनझरिया स्त्रियाँ सड़कें झाड़ रही थीं। नाली का पानी और गड्ढों की धूल छान रही थीं। धूल, कचरे पर उनकी बारीक नज़र थी कि सोने-चाँदी के कुछ कण मिल जाएँ। मैं यह सब देखते धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था कि दूर एक सिर पर वही गोल टोकरी मेरी ओर आती दिखी। इकतारा की धुन सुनाई दी। मैं रुक गया और उसके पास आने का इन्तज़ार करने लगा।

वे वही बुज़ुर्ग थे। उनके पास आते ही मैं खुद को रोक न सका। और सवालों की झड़ी लगा दी, "आप कहाँ रहते हैं? यहीं रायपुर में ही रहते हैं न। इकतारा कहाँ से लाते हैं?"

मुझे उनके जवाब का इन्तज़ार था। वे कुछ अचकचाए और बोले, "इकतारा नहीं लेना है तो बार-बार रोकते क्यों हो?" और आगे बढ़ गए। मैंने रोकना चाहा, लेकिन वे नहीं रुके।

मैं हैरान था। यह क्या हुआ? उसका यह कहना कि "बार-बार रोकते क्यों हो?" मेरे अन्दर घूमता रहा। जिस व्यक्ति को मैंने आज इतने सालों बाद देखा, वो पूछ रहा है यह! क्या इकतारा को लेकर मेरा इतना ज़्यादा सोचना उन तक पहुँच गया? या मेरा उतावलापन।

इकतारा के लिए मेरी छटपटाहट बढ़ गई। अगले दिन से फिर वही रास्ता मैंने पकड़ लिया, ईदगाह भाटा मैदान के सामने वाला। अब मैं काम-बेकाम इसी रास्ते से गुज़रता। अब

वो इकतारा वाला मुझे अकसर दिखने लगा था। उसकी दिनचर्या को मैं कुछ-कुछ जानने लगा था। मेरा आकर्षण अब इकतारे में नहीं उस बूढ़े इकतारेवाले से बात करने में ज़्यादा था।

एक शाम मैंने उनसे बात करने की कोशिश की। वे नाराज़ हो गए। आसपास वालों ने बताया कि वे अकेले रहते हैं। धीरे-से कभी पूछिएगा तो सब बता देंगे। "सब मतलब?" मैंने पूछा। चाय वाले ने कहा, "बचपन उनका खूब खुश-सम्पन्न बीता। आज वे झोपड़ी में रहते हैं। थोड़े रूखे हैं। कभी उनसे बात करिएगा।" मैं सोचता रहा कि जो महज़ एक तार से इतना मीठा संगीत बजाता हो वह कैसे रूखा हो सकता है।

आते-जाते जब भी मैं इकतारेवाले को बैठे, चाय पीते देखता तो उनके करीब बैठ जाता। चुपचाप बैठा रहता। उनके साथ बैठा रहता। वही दाढ़ी, वैसे ही बेतरतीब बाल, जैसा मैंने कई बरस पहले उन्हें पहली बार देखा था। ऐसा कई महीनों तक चला। जब-तब। इस बीच हमारे बीच कोई बातचीत नहीं हुई। बस एक दूरी का परिचय बन गया था। फिर एक दिन मैंने उनसे बात करनी शुरू की।

मैंने उनसे पहले की कोई बात न की। आज की बात की। पहले की बात उन्हें दुखी कर सकती थी। हालाँकि मेरी दिलचस्पी उनके 'पहले के समय' में ज़्यादा थी।

मैंने उनका नाम पूछा।

जवाब मिला, "धनपत। धनपत सिंह।" फिर लम्बी चुप्पी रही। मैं सोच में पड़ गया कि सीधे नाम पूछकर मैंने कोई गलती तो नहीं की। नाम भी तो बचपन से जुड़ा होता है।

चुप्पी तोड़ते हुए मैंने पूछा, "आप इकतारा बजाते हैं?" उन्होंने कहा, "बनाता भी हूँ और बजाता भी हूँ और यह सब बेचने के लिए करता हूँ। आपको लेना है?" मैंने तुरन्त "हाँ" कहा। उन्होंने कहा "अभी नहीं है। कुछ दिनों बाद बनाऊँगा। तब ले लेना।" वे उठकर चले गए। बातचीत यहीं पर खत्म हो गई।

अगली बार मिले तो मैंने पूछा, "इकतारा कैसे बनाते हैं?" जवाब मिला, "इसे बनाना मुश्किल नहीं है। साधना कठिन है।" फिर बताया कि कैसे बाँस, मिट्टी की कटोरी, तार, मैदे या आटे से चिक्की, मोटे कागज़ से आधार बनता है। और बजाने के लिए एक छोटा धनुष बनाना पड़ता है। केतकी की पत्तियों से पतले रेशे निकाले जाते हैं। कई रेशों को मिलाकर धनुष पर चढ़ा देते हैं। इकतारा इससे ही बजता है। मैंने पूछा, वॉयलिन की छड़ी की तरह न, जो पहले घोड़े की पूँछ के बालों से बनती थी।

वो बोले, "आज मेरे लिए घोड़े के बाल की कीमत घोड़े से ज़्यादा है।"

फिर कुछ सोचते हुए बोले, "यह आज़ादी के पहले की बात है। मैं अपने पिता हंसरामजी के साथ हरियाणा के गाँव बीदल में रहता था। पिता 52 गाँवों के चौधरी थे। पैसा भी खूब था। 1942-43 में अँग्रेज़ों से लड़ते हुए वे शहीद हो गए। उस समय मैं पाँच-छह साल का था। इसके बाद मेरे परिवार की स्थिति बिगड़ती गई।" इतना बताते ही धनपतजी नाराज़ हो गए। और आज़ादी के नेताओं, प्रधानमंत्रियों, वर्तमान राजनेताओं, अधिकारियों के विरोध में क्या-क्या कहते रहे। किसी ने उनके परिवार की सहायता नहीं की। वे सब भटकते रहे। आज भी भटक रहे हैं।

उस दिन मैं आगे नहीं पूछ पाया और लौट आया।

काफी दिनों बाद मिले तो मैंने पूछा, "आप कहाँ-कहाँ घूमे हैं?" उन्होंने कहा, "मैं इकतारा बेचने पूरा भारत घूमा हूँ। बंगाल, उड़ीसा, राजस्थान, पंजाब, सिक्किम, कर्नाटक, तमिलनाडु। मैं बात करने लायक वहाँ की भाषाएँ बोल लेता हूँ। इकतारा बेचने के लिए, रोटी के लिए जहाँ जाता हूँ, वहाँ की भाषा को भी जानना होता है।" लोगों ने बताया कि धनपत सिंह तेलगू, तमिल, कन्नड़, बंगाली, पंजाबी और कुछ-कुछ सिक्किमी भी बोल-समझ लेते हैं।

धनपत जी ने बताया कि पिता की मृत्यु के बाद उनकी माँ उन्हें दिल्ली ले गई थीं। वहीं वे बड़े हुए। फिर कमाने के लिए इलाहाबाद चले गए। इलाहाबाद में अपने भांजे से उन्होंने



इकतारा बनाना और बजाना सीखा। तब वे 14 साल के थे। त्यौहारों में वहाँ इकतारा खूब बिकता था। उनके बड़े भाई जिले सिंह ने अँग्रेज़ों को भी इकतारा बेचा है। करीब 1973 में वे पहली बार रायपुर आए।

बातचीत के बीच धनपतजी ने अचानक कहा, "इकतारा तरक्की का सामान नहीं है। इससे ज़िन्दगी नहीं बनती। फिर भी मैं इसे बनाना और बजाना छोड़ नहीं पाया। इसे कोई भी खरीद सकता है।" और वे चले गए।

उनसे बातचीत कई मुलाकातों में हुई। कई बार मैं उनके आस-पास बैठा, लेकिन चुप रहा। अनेक बार बातों का क्रम टूटा भी। लेकिन बिखरा नहीं। वे अकेले हैं। उनकी बातों में दोहराव है। ज़िन्दगी सिमटी हुई-सी लगती है - उन्हीं पुरानी बातों में, आसपास से उलझी हुई-सी। उनसे और केवल यही जान पाया कि एक दिन में वे करीब पाँच-छह इकतारा बना पाते हैं। बिकते कितने दिनों में हैं पता नहीं। शायद एक-दो रोज़ में बेच पाते हों। 75 की उमर में अब कुछ बनाना और घूमकर बेचना कठिन है। फिर भी 60 सालों से वे इसे बनाते, बेचते और बजाते रहे हैं। वे कहते हैं, "इकतारा तो खरीदने वाले बहुत हैं। बच्चे भी और कुछ बड़े भी। लेकिन, संगीत कोई नहीं खरीद सकता।"

मैंने उनसे पूछा, "इकतारा बजाना मैं सीखूँगा कैसे?"

उन्होंने कुछ नाराज़गी से ठहरकर कहा, "यह कोई मामूली काम नहीं है। संगीत तो जीवन में है। सब तरफ है। पहले उसे सुनना सीखो।" इतना कहते ही वे उठकर चले गए। पैरों में रबर की वही चप्पल, बेतरतीब से फैले हुए सफेद बाल, चेहरे पर फैली दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए वे कुछ बुदबुदाते जा रहे थे। उनकी चाय मेरे बाजू में रखी थी। आधी बची हुई। ईदगाह भाटा के मैदान के आसपास वही भीड़-भाड़ थी। शोर था। कौन यहाँ फैला हुआ संगीत सुन रहा होगा!



चित्रः प्रोइती रॉय



शाम को मिलना

पद्मजा
चित्रः देवब्रत घोष



बाशु को रात को जागना बहुत अच्छा लगता था। पर दादी हमेशा उसे कहतीं कि रात को सोया करते हैं। वो रात को जागा रहता और दिन में सोया रहता। तब दादी कहतीं कि दिन में जागा करते हैं। ये बात वो सोए हुए बाशु को ही कहती रहतीं। रात में उसे चित्र बनाना बहुत पसन्द था। खूब सारे चित्र बनाने के बाद वो कविताएँ पढ़ा करता और फिर कविताओं को अपने युकुलेले पर बजाता हुआ गाता। गाते-गाते वह सड़क पर घूमने निकल जाता। खाली सड़कें उसे खाली आँगन सी लगतीं। सुबह घर लौटकर वह सो जाता।

दादी को सारे काम दिन में करने अच्छे लगते थे। वे पौधों को पानी देतीं, गली में क्रिकेट खेलते बच्चों की अम्पायर बनतीं। शाम को पतंग उड़ातीं। फिर अगले दिन की पतंग लेने के लिए बाज़ार जातीं।

नींद आने से ठीक पहले उनका मन करता कि वे बाशु को दिन में खिले रंग-बिरंगे फूल दिखा सकें। उसे क्रिकेट के नियम समझा सकें और उसके साथ पतंगबाज़ी कर सकें।

एक रात बाशु ने खूब सारे चित्र बनाए। उसने नीले रंग की सड़क बनाई, चाँद, तारे, बादल, रात में होने वाली बारिश और खाली पार्क बनाए। पर फिर भी उसे लगा कि कुछ कमी है। इस रात उसने वो चित्र वहीं छोड़ दिया। अगली रात जब वो जागा तो उसे एक चिट्ठी मिली।

प्रिय बाशु,

मुझे एक मदद चाहिए। मैं शाम को जब भी पतंग लेने जाती हूँ तब सड़कों पर बहुत गाड़ियाँ और लोगों की भीड़ होती है। मुझे सड़क पार करने में बहुत मुश्किल आती है। क्या तुम शाम को थोड़ा जल्दी उठकर मेरे साथ पतंग लेने चल सकते हो?

तुम्हारी दादी

शाम को दादी छत से उतरीं तो देखा बाशु तैयार था! वे बाज़ार को निकल पड़े। भीड़ भरे रास्तों को बाशु ध्यान से देखता रहा। दोनों ने हाथ पकड़कर आसानी से सड़क पार कर ली। लौटते हुए बाशु ने दादी को कविताएँ सुनाईं।

उस रात बाशु के नीले में कई रंग शामिल हो गए। उसने गुब्बारेवाले का चित्र बनाया, अलग-अलग चीज़ों पर पड़ती धूप का चित्र बनाया, घर लौटते पक्षियों के चित्र बनाए। इस तरह शाम का वक्त दिन और रात के मिलने के साथ-साथ दादी और बाशु के मिलने का भी वक्त बन गया।

दादी अब बाशु के साथ पतंग लेने शहर की सबसे दूर वाली दुकान पर जाया करतीं।

(पेज 26 का शेष) **मेरी माँ...**

कुछ देर बाद खबर मिली कि लोग सिखों के घर जला रहे हैं। हमारे शहर में भी। हमने जल्दी-जल्दी सारे खिड़कियाँ-दरवाज़े बन्द कर दिए। हमारी नज़रें खिड़कियों के रास्ते बाहर के गेट पर टिकी थीं। घण्टा भर भी नहीं गुज़रा होगा कि एक भीड़ आती दिखी। हमें पूरा यकीन था कि भीड़ हमारे घर की ओर मुड़े बिना आगे निकल जाएगी। लेकिन हम गलत थे। कुछ ही देर में सैकड़ों लोग गेट को तोड़ते हुए हमारी ओर दौड़ते आते दिखे।

माँ ने कसकर मेरा हाथ पकड़ा और अगले ही पल पिछले दरवाज़े की ओर लपकीं। उस क्षण में भी बिना होश गँवाए उन्होंने बचाव का रास्ता ढूँढ लिया था। हम पीछे के रास्ते से निकलकर पड़ोसियों के घर छिप गए थे। हम एक कोने में दुबके साँसें रोके अपने घर से आती वहशी आवाज़ें सुन रहे थे। कुछ देर बाद ज़ोर-का शोर हुआ और अचानक मेरे घर की हर खिड़की, रोशनदान से आग की लपटें निकलती दिखीं। मैं सन्न रह गया। लगा जैसे यह सब असल नहीं है। जैसे मैं कोई फिल्म देख रहा हूँ। मैं दुखी था या हैरान या ठीक उस क्षण कुछ था भी या नहीं। हम दोनों सुन्न-से अपने घर को जलता हुआ देख रहे थे।

अगले दो दिन हम हमारे पड़ोसी के घर में छिपे रहे। मेरे लम्बे बालों को खोलकर दो चोटियाँ बना दी गई थीं। यह सब पहली बार हुआ था। पहली बार मैं अपने मोहल्ले में किसी दूसरे के घर परिवार के एक सदस्य की तरह रह रहा था। हर चीज़ को हैरानी से देखता। हर चीज़ अनोखी थी।

हमारा घर एक-डेढ़ दिन तक लगातार जलता रहा। मैं बीच-बीच में खिड़की से उसे देख लेता। तीसरे दिन हम अपने घर में दाखिल हुए। घर बहुत गरम था। जैसे अब भी सुलग रहा हो। घर की हर चीज़ राख हो चुकी थी। पंखे पिघल गए थे। दीवारें और छतें काली पड़ गई थीं। पिता की आदमकद तस्वीर भी राख हो चुकी थी। अब सिर्फ मैं और मेरी माँ बचे थे।

दंगों के बाद सारे सिख पंजाब जाने लगे थे! हम भी शहर के जाने-अनजाने सरदार परिवारों के साथ निकल पड़े। इस शहर से सबकी उम्मीदें खत्म हो चुकी थीं। हम सब एक गाड़ी में बैठे। न जाने किस नए की उम्मीद में! मुँह अँधेरे गाड़ियों की कितनी ही कतारें एक-दूसरे से चिपकीं शहर से निकलीं। ताकि लोग हमें जाता देख न सकें। माँ के लिए यह दूसरा विस्थापन था। पहला, पाँच-छह साल की उम्र में हुआ था जब वो पाकिस्तान से भारत आई थीं।

अनुवादः निधि सक्सेना

(अगले अंक में जारी।)

"आलू"

अरुण कमल
चित्र: अजंता गुहाठाकुरता



कहते हैं शुरू में आलू बिलकुल गोल था। गेंद जैसा। रखा जाता यहाँ तो लुढ़क कर चला जाता वहाँ। सब परेशान हो जाते। घरों में दादी-नानी का काम ही रह गया था आलू ढूँढना। तब धरती को एक तरकीब सूझी। उसने आलू को थोड़ा ऊबड़-खाबड़ बना दिया। कई जगह ज़रा दबाया। कहीं उठाया। कई छोटे-छोटे गड्ढे बना दिए। कहते हैं तब से आलू की शरारतें काफी कम हो गईं। और देखते-देखते वह दुनिया भर में फैल गया। आलू के बगैर आज ज़िन्दगी चल ही नहीं सकती।

कहते हैं शाहजहाँ से पूछा गया, "अगर आपको एक ही अनाज खाने को मिले तो क्या चुनेंगे।" शाहजहाँ ने कहा, "चना।" क्योंकि चने को आप इतनी तरह से खा सकते हो। लेकिन आलू उससे भी आगे है। आलू मतलब पूरी रसोई। कहते हैं आयरलैंड में पहले ऐसे भी लोग होते थे जिन्होंने आलुओं के सिवा जीवन में कुछ खाया ही नहीं था।

और आलू कितने मज़ेदार हैं। मिट्टी के ऊपर हरी पत्तियाँ होती हैं और अन्दर जड़ों में आलू के झब्बे। बड़े आलू। छोटे आलू। नन्हें आलू। इतने मुलायम। भीगे। नींद में डूबे। गीली मिट्टी से लथपथ। छिलके इतने पतले कि साँस से छिल जाएँ। और उन्हें ज़रा-सा बोरसी या अँगीठी में रख दो तो फड़फड़कर पकने लगते हैं। तब ठण्डा होने पर छिलका झुर्रियों से भर जाता है। गर्म-गर्म मुँह में डालो तो आँखों में पानी आ जाए। ज़रा-सा नमक छिड़क दो काट कर। थोड़ा नींबू। क्या कहने फिर!

मुझे तो भई आलूदम बेहद पसन्द हैं। उबले आलुओं का रस्सेदार दम। और ये दम भी कित्ते तरह के हैं।

कश्मीरी दम मुझे सबसे ज़्यादा पसन्द हैं। और फिर छिलके समेत आलू की सब्ज़ी। या गोल कटे आलुओं की भुजिया। या आलू का चोखा। ज़रा सरसों का तेल। नमक। हरी मिर्च। एक साथ सने। और आलू बोंडा, आलू चौप, चिप्स, कतले, सेव, भुजिया, कचालू, जैकेट



पोटैटो, आलू परौंठे, भीतर भरे आलू, लच्छे वगैरह वगैरह। आलू जैसा दोस्त दुनिया में कोई नहीं। चाहे जो भी बनाओ, जो भी डाल दो, किसी के साथ मिला दो - कोई परवाह नहीं। न तो आलू की किसी से दुश्मनी है, न कोई आलू का कुछ बिगाड़ सकता है। आलू सबमें है, पर सबसे अलग है। आलू की मेड़ पर मूलियाँ भी खूब उपजती हैं। मेड़ों के बीच क्यारियों में बहता पानी भीतर मिट्टी से मिलकर इतने छोटे-बड़े आलुओं अर्थात टापुओं में बदल जाता है।

पर आलू लगातार कुछ न कुछ करता रहता है। शरारती जो ठहरा। अगर आप उसे थोड़े दिन छोड़ दो तो वह अँखुवाने लगता है। सफेद अंकुर से आ जाते हैं। फिर वह भीतर ही भीतर मीठा भी हो जाता है। आलुओं को ठण्डा पसन्द है। इसीलिए वे ठण्डे घर में रहना पसन्द करते हैं। पैदा भी तो जाड़ों में ही होते हैं। और इतने रंग के होते हैं। लाल, पीले, सफेद। गोल। अण्डाकार। चपटे। पत्थर से।

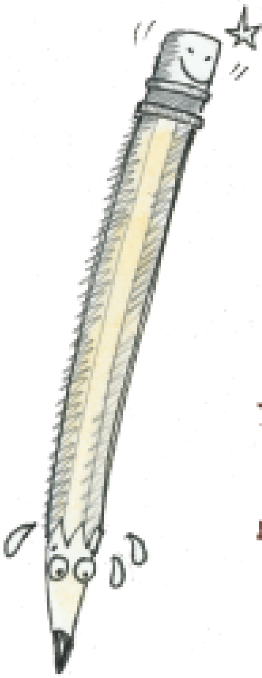
पर इतने मुलायम कि एक बड़े आलू को बीच से काट कर उस पर अपना नाम खोद दो उल्टा तो मुहर बन जाए। खराबी एक ही है कि आप उसे कच्चा नहीं खा सकते।

कहते हैं कि आलू का असली घर पेरू में है। वहीं से यह पूरी दुनिया में फैला। एक बार मैं पेरू गया। वहाँ आलू की जन्मभूमि देखी। कहते हैं कि चार हज़ार तरह के आलू वहाँ होते हैं। वहाँ बिलकुल छोटे-छोटे आलू भी देखे कँचों की तरह। कहते हैं आदमी के दो ही दोस्त हैं – कुत्ता और आलू।

दुनिया एक है। सारे घर एक हैं। सारे लोग एक हैं क्योंकि हर घर की रसोई में एक चीज़ होती ही होती है। वो है – आलू। और इसके नाम भी मज़ेदार हैं। खुद आलू बोलने में कितना मज़ा है। पटैटो भी इत्ता ही प्यारा है। वाह रे मेरे प्यारे पपा-बटाटा।

आलू। भालू। बालू। चालू। टालू। आ। लू। लू।

इरेज़र



पेंसिल से मैंने ख़त लिखा लेकिन वो मुझको नहीं दिखा



चित्रः अतनु राय

हमसफ़र

अबीरा शेख
चित्रः देबब्रत घोष

मेरे स्कूल में दशहरे की छुट्टियाँ थीं। मैंने अम्मी से कहा, "इन छुट्टियों में खाला के यहाँ जाऊँगी।" अम्मी ने पापा से कहा। पापा ने कहा, "ठीक है, मैं छोड़ आऊँगा।" अम्मी ने एक बैग में मेरे कपड़े रख दिए। खाला के लिए अचार, पापड़ और बड़ियाँ भी बाँध दिए। खाला का घर चाँदपुर में है। पापा के स्कूटर से दो घण्टे लगते हैं पहुँचने में।

पापा ने स्कूटर चालू किया। मैंने अम्मी को गाल पर प्यार किया और स्कूटर की पीछे वाली सीट पर बैठ गई। "अबीरा, सोना मत और पकड़कर बैठना!" पापा ने हिदायत दी। स्कूटर चल पड़ा। मैंने अम्मी को हाथ हिलाया। गली से मुड़ने तक हाथ हिलाती अम्मी दिखती रहीं। फिर मैंने गर्दन सामने की तरफ मोड़ ली। अब मुझे पापा की कमीज़ दिख रही थी। हलकी आसमानी।

पापा की पीठ से बायाँ कान और गाल सटाकर मैं दाँईं तरफ देखने लगी। हमारा स्कूटर सामने की तरफ भागा जा रहा था। और सब चीज़ें उलटी तरफ भाग रही थीं। मकान आता, दूसरी तरफ भाग जाता। दूकान आती, दूसरी तरफ भाग जाती... अचानक मेरे बाएँ कान पर गुदगुदी-सी हुई। मैंने अपना कान खुजाया। सिर सीधा करके मैंने सोचा, "अब दायाँ कान और गाल पापा की पीठ से सटाकर बाईं तरफ का रास्ता देखूँगी।"

मैं ऐसा करने ही वाली थी कि पापा की हलकी आसमानी कमीज़ पर मुझे एक चींटी दिखी। काली। वह पापा की बाईं बाँह की तरफ तेज़ी-से भागने की कोशिश कर रही थी। लेकिन पापा की कमीज़ तेज़ हवा में फड़फड़ा रही थी। चींटी को भागते-भागते रुकना पड़ रहा था। हवा के थपेड़े उसे भागने तो क्या, चलने भी नहीं दे रहे थे। उसने कसके पापा की कमीज़ पकड़ ली थी। कि कहीं हवा में उड़ न जाए!

"ओह्ह! तो तुमने मेरे कान में गुदगुदी की थी!" मैंने उससे पूछा। उसने कोई जवाब नहीं दिया। वह अब भी कसकर पापा की कमीज़ से चिपकी हुई थी। मैंने सोचा, उसे हवा से बचाना चाहिए। हथेली से गुफा बनाकर मैं उसे ढँक दूँगी। हथेली की गुफा बनाकर मैंने हाथ उसकी तरफ बढ़ाया। लेकिन वह तो हाथ अपनी ओर आता देख कमीज़ छोड़ जैसे-तैसे तेज़ी से भागने लगी। भागते-भागते वह पापा की कमीज़ की बाईं बाजू पर पहुँच गई। एकदम किनारे पर। वहाँ हवा इतनी तेज़ थी कि वह बस उलटने वाली थी। उसके पीछे के दो पैर ही कमीज़ पर रह गए। चार पैर हवा में नाच रहे थे। सिर के दो एंटीना भी। मैंने एकदम से हथेली की गुफा उस पर ढँक दी।

अब उसे हवा के धक्के नहीं लग रहे थे। वह अपने छह पैरों पर दौड़ने लगी। हथेली की गुफा की दीवारों पर। मुझे फिर गुदगुदी होने लगी! डर भी लगा कि कहीं वह मुझे काट न ले। वह मेरे अँगूठे के नीचे से झाँकने लगी। थोड़ा रुकी। फिर अँगूठे पर चढ़कर बाहर आ गई। गुफा की छत पर। "तुम गुफा के अन्दर क्यूँ नहीं बैठतीं आराम से?" मैंने उससे पूछा। वह रुककर मेरी तरफ देखने लगी। मुझे लगा, वह जवाब देगी...पर नहीं। वह गुफा के अन्दर चली गई। और अन्दर चक्कर काटने लगी। मुझे याद आया कि मैंने चींटी को कभी बैठते हुए नहीं देखा है। आराम से बैठे हुए तो बिलकुल नहीं।

"अबीरा, किससे बात कर रही हो?" पापा ने पूछा।

"पापा, हमारे साथ कोई और भी चाँदपुर जा रहा है!"

"कौन जा रहा है?"

"एक चींटी"

"उसे चाँदपुर ही जाना है न? पूछ लो। कहीं नूरपुर न उतरना हो!" पापा ने कहा।

"तुम्हें चाँदपुर ही जाना है न?" मैंने हथेली की गुफा के दरवाज़े पर पुकारकर कहा।

पर उसने कोई जवाब नहीं दिया। वह गुफा की उँगलियों वाली दीवार में से तेज़ी-से बाहर निकली। और छत से होती हुई मेरी बाजू पर भागने लगी।

"अरे-अरे! ऐसे मत भागो! डरो नहीं। हम तुम्हें चाँदपुर पहुँचा देंगे।"

मैंने दूसरे हाथ की एक उँगली उस पर रख दी। धीरे-से कि वह भाग न सके और दबे भी नहीं। फिर मैंने उसे अँगूठे और उँगली में पकड़कर उठा लिया। मेरे अँगूठे और उँगलियों पर वह ज़ोर-ज़ोर से पैर मारने लगी। इतनी ज़ोर-से कि मुझे गुदगुदी होने लगी। मैं उसे अपनी आँख के पास ले आई। वह तेज़ी-से पैर मारकर छूटने की कोशिश कर रही थी। मैंने उसे पापा की कमीज़ पर छोड़कर फिर गुफा में ढँक दिया। गुफा का दरवाज़ा भी बन्द कर दिया।

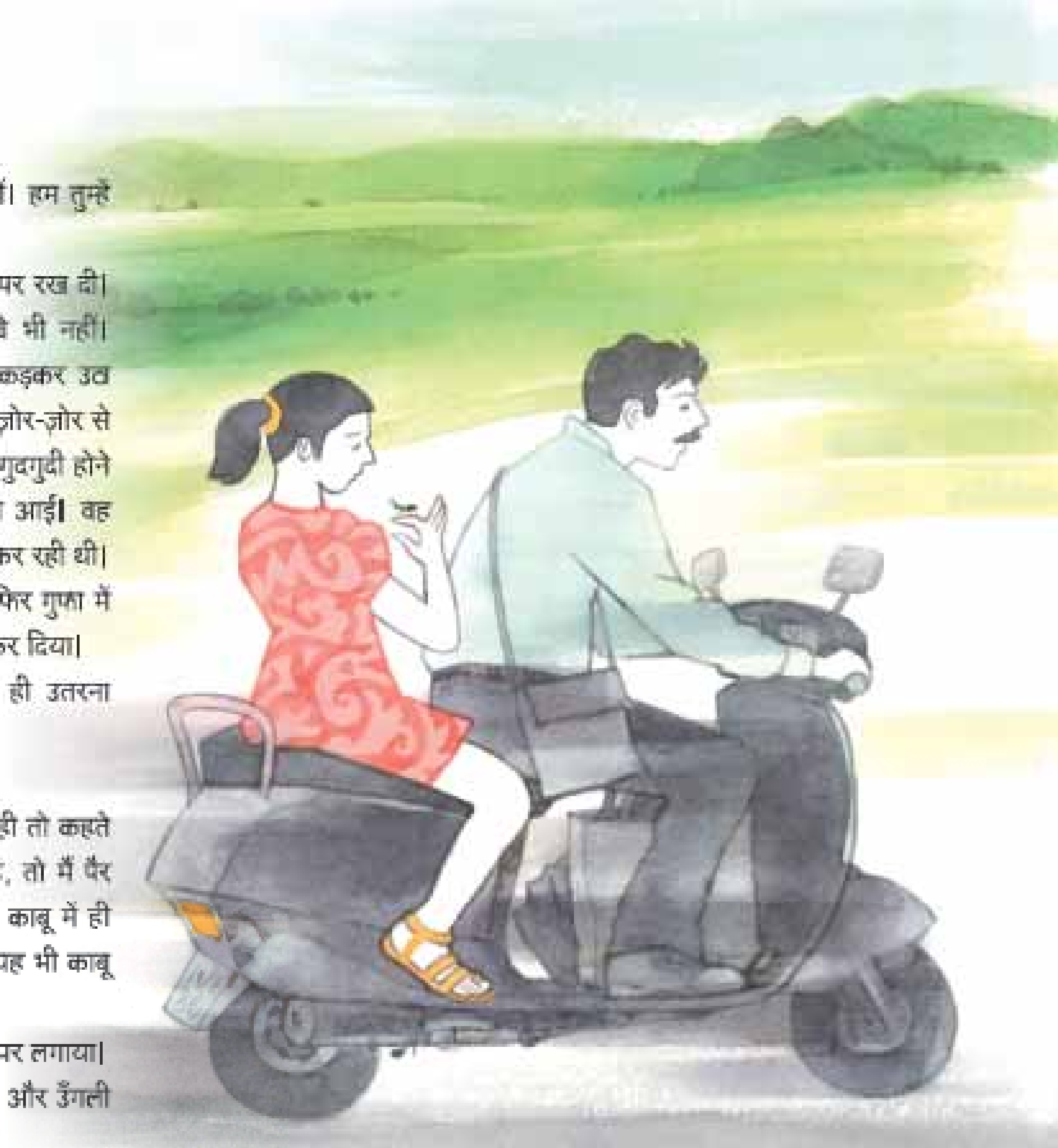
"पापा, इसे शायद यहीं ताजपुर ही उतरना है।" मैंने कहा।

पापा ने कहा, "तुम्हें कैसे पता?"

"देखिए, यह रुक नहीं रही। आप ही तो कहते हैं, जब मुझे कोई काम करना होता है, तो मैं पैर पटकती हूँ! आप कहते हैं, "अबीरा तो काबू में ही नहीं आती। यह भी पैर पटक रही है! यह भी काबू नहीं आ रही!"

पापा ने स्कूटर धीमा करके किनारे पर लगाया।

मैंने गुफा खोलकर चींटी को अँगूठे और उँगली की चुटकी से पकड़ लिया।



"देखो, हम तुम्हें ताजपुर उतार रहे हैं। शायद तुम्हारी खाला रहती हैं यहाँ।" मैंने उसे अपने चेहरे के नज़दीक लाकर कहा, ताकि वह मेरी बात ध्यान से सुन ले। "अब सीधी अपनी खाला के यहाँ जाना!" कहकर मैंने उसे ज़मीन पर छोड़ दिया।

ज़मीन पर उतरते ही वह इधर-उधर भागने लगी। पहले दाएँ भागी। फिर रुकी। फिर पलटकर बाएँ भागी। फिर रुकी। तब सामने को भागी। फिर रुकी। फिर लौटकर मेरी तरफ भागी।

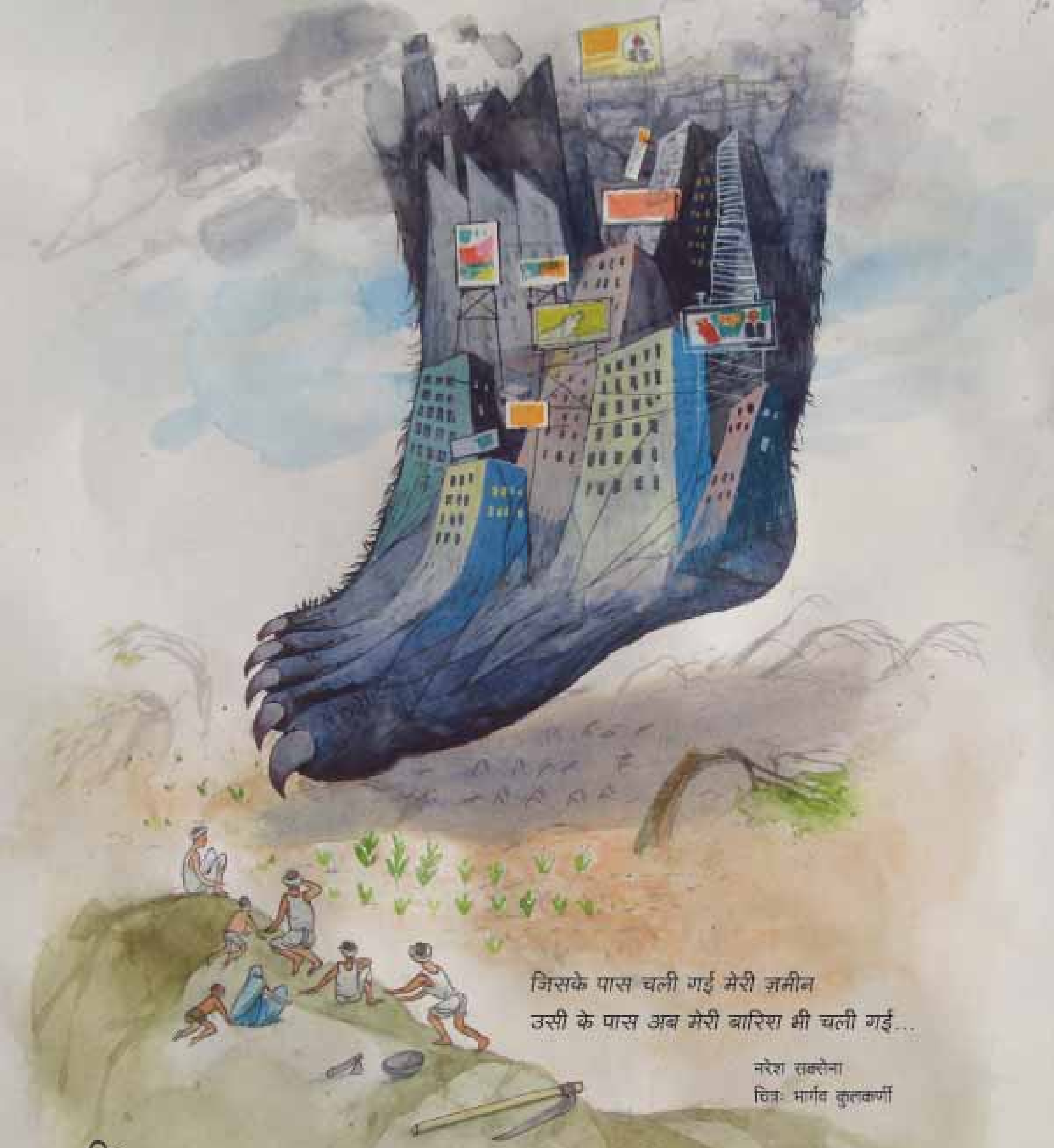
"क्या तुम्हें खाला के घर का रास्ता नहीं मालूम?" मैंने झुककर उससे पूछा।

वह रुककर मेरी तरफ मुँह उठाकर देखने लगी। उसके दोनों एंटीना हवा में नाच रहे थे। फिर वह मुड़ी और दूसरी तरफ चलने लगी।

"पापा, यह कैसे जाएगी?" मुझे चींटी की चिन्ता थी।

तभी वहाँ दो चींटियाँ और आ गईं। वे दोनों हमारी वाली चींटी के पास रुकीं। तीनों ने आपस में सिर जोड़कर कुछ बात की। और तीनों एक के पीछे एक चल दीं।

"चलो, अबीरा! अब वह पहुँच जाएगी। चींटियाँ अपने दोस्त और अपना रास्ता ढूँढ ही लेती हैं।" पापा ने कहा।



जिसके पास चली गई मेरी ज़मीन
उसी के पास अब मेरी बारिश भी चली गई...

नरेश सक्सेना
चित्र: भार्गव कुलकर्णी



चित्रः अतनु राय

माथापच्ची

1 **दो दोस्त जा रहे हैं।**

इस वाक्य में हमने

'द' को **'क'** से और **'ह'** को **'प'** से बदल दिया।

नया वाक्य बना- को कोस्त जा रपे पैं।

नीचे दिए वाक्य में भी दो अक्षर बदले हैं।

मैं बस बसम सोने गया था।

असल वाक्य क्या रहा होगा?

2

कोई भी चार अंक का नंबर लें। जिसके कम से कम दो अंक अलग हो।

अब घटते और बढ़ते क्रमों में उन अंकों को लगाओ। और छोटी संख्या को बड़ी से घटा दो।

जो संख्या मिली उससे फिर से पहले की तरह दो संख्याएँ बना लो। और छोटी संख्या को बड़ी से घटा दो।

जवाब होगा कापरेकर कॉनस्टेंट -

(जैसे 7641-1467 = 6174)

1 जन्म तो हुआ है जंगल में
पर नाचे वो गहरे जल में

2 लोहे की है दो तलवारें
खूब लड़ें पर साथ रहें

3 घुसा आँख में मेरे धागा
दर्जी के घर से मैं भागा

4 एक कुएँ में घाट हज़ार
एक हज़ार घुसे पनिहार

लाइटनिंग

प्रभात
चित्र: नीलेश गहलोत

वह किसी पहाड़ी टीले पर खड़ी हो जाती। चाँद की ओर मुँह उठाती। और गर्जना भरी अवाज़ में अपने प्यारे जंगल को पुकारती, "रणथम्भौर ऽ ऽ ऽ रणथम्भौर ऽ ऽ ऽ रणथम्भौर ऽ ऽ ऽ।"

रणथम्भौर की हवाओं की सीटी जैसी आवाज़ चारों ओर गूँजती, "लाइटनिंग ऽ ऽ ऽ लाइटनिंग ऽ ऽ ऽ लाइटनिंग ऽ ऽ ऽ।"

इतना चाहती थी अपने जंगल को बाघिन लाइटनिंग।

इतना चाहता था अपनी लाइटनिंग को रणथम्भौर।

लाइटनिंग की अपनी टैरीटरी ही नहीं, जंगल का चप्पा-चप्पा लाइटनिंग को चाहता था। वहाँ के फूलों से भरे पेड़, पहाड़, झरने। पतली नन्ही नदियों सरीखे नाले। पोखर और छोटी झीलें। मिट्टी के टीले और घाटियाँ। बनास नदी और सुनहरी घासों के मैदान। यहाँ तक कि दूसरे तमाम जानवर भी। क्योंकि भूखी न हो तो वह बेवजह किसी पर हमला नहीं करती थी। चाहे वह कितना ही स्वादिष्ट बछड़ा हो या फिर बारहसिंघा।

झील के फ्लैमिंगो और साइबेरियन क्रेन उसके पानी से खेलने का खेल देखते थे। कभी-कभार मगरमच्छ से उसकी मुठभेड़ भी देखने को मिल जाती थी।

पक्षी तो अखबारों या टीवी चैनल्स की तरह उसकी ही चर्चा किया करते थे -

"कल रात एक ही झपाटे में भैंसे की गर्दन तोड़ दी। क्या शानदार शिकारी है हमारी लाइटनिंग!" सेमल के पेड़ पर से किंगफिशर ने कहा।

"आज लाइटनिंग अफ्रीका और यूरोप के पचासों कैमरों से घिर गई। उसने वहाँ रुककर खूब पोज़ दिए। क्या खूब स्टार है हमारी लाइटनिंग!" कल्पवृक्ष पर बैठे कठफोड़वे ने कहा।

दोपहर में लाइटनिंग गुलमोहर तले सुस्ताती। वह आँखें मूँदकर मुँह फाड़कर लेट जाती। जाने कैसे, जाने कहाँ से चिड़ियाँ आतीं और किसी किले के झरोखे जैसे उसके मुँह में बैठ जातीं। और उसके दाँतों में फँसे माँस से अपना पेट भरतीं और मज़े करतीं।

उफ! रणथम्भौर की गर्मियाँ। चारों ओर सब कुछ सूख गया है। दूर-दूर तक सब कुछ साफ दिखाई देने लगा। बिना पत्तों के सूखे पेड़, लगभग मिट चुके झाड़ और मिट्टी में बदल चुकी घास। चींटी के लिए भी कहीं छाया नहीं। चींटी के बच्चों के लिए भी कहीं छिपने की जगह नहीं बची।

शाम ढले लाइटनिंग के पैर ज़मीन पर ठहरते नहीं थे। वह टैरीटरी से कहीं दूर घूमने निकल जाती। आज भी निकल गई थी। चलते-चलते सूर्यास्त हो गया था। उसने अपनी बादलों सरीखी गर्जना भरी आवाज़ में डूबते सूरज को अलविदा कहा। मगर वह चलती रही। चलते-चलते जंगल के पार के खेतों में निकल आई।

अचानक लाइटनिंग का अगला पैर हवा में था और वह खुद भी। वह किसी गहराई में गिर रही थी। एक ज़ोरदार धमाके की आवाज़ हुई। धमाका पानी में हुआ था। लाइटनिंग एक खेत के बिना मुण्डेर के कुएँ में गिर चुकी थी।

पास के गाँववालों ने कुएँ में दहाड़ती लाइटनिंग की आवाज़ सुन ली। वे चारों ओर से दौड़ते आए। किसी ने तुरन्त वन विभाग को फोन कर दिया। कुछ ही देर में वन विभाग की ज़िप्सियाँ दौड़ती हुई वहाँ आ गईं।

वन विभाग पूरी तैयारी के साथ आया था। उनका सुरक्षा अभियान तेज़ी से चल रहा था। कोई पिंजरा खोल रहा था। कोई बाघिन को ट्रंकोलाइज़ (बेहोश) करने का आदेश दे रहा था। कोई इंजेक्शन में दवा मिला रहा था। अब गन में इजेक्शन को लगाया जा रहा था। एक वनकर्मी कुएँ में उतर चुका था। जैसे किसी डूबते बच्चे को बचाने के लिए उतर रहा हो। उसके पास इंजेक्शन लगी हुई गन भेजी जा रही थी। पिंजरे में बैठकर उतरा वनकर्मी बाघिन के बहुत बहुत नज़दीक पहुँच गया था। बाघिन उसकी ओर मुँह फाड़कर दहाड़ रही



थी। कुएँ के भीतर बेहद डरावना माहौल बन गया था। कछुए और साँप छिप गए थे। और दो मेंढकों के दिल की धड़कनें थम गई थीं। उनकी पैर फैली हुई लाशें पानी पर तैर रही थीं।

"देखो ध्यान से अगर इंजेक्शन हड्डी पर लगा तो ऑपरेशन फेल हो जाएगा।" डीएफओ (ज़िला वन अधिकारी) ने कहा।

"इससे पहले वह तीन बार बाघ को ट्रंकोलाइज़ कर चुका है। उसे अनुभव है सर!" रेंजर ने कहा।

"हाँ हाँ इंजेक्शन सही जगह लगा है।" कुएँ से आवाज़ आई।

कुएँ से लाइटनिंग के दहाड़ने की आवाज़ आना बन्द हो गई। अब सुरक्षा अभियान खामोशी से चल रहा था। बाघिन को जाल के झूले में डालकर निकाल लिया गया था। उसे पिंजरे में डाल दिया गया था।

पता चलने पर अपनी माँओं के साथ स्कूली बच्चे भी आ गए। वे पिंजरे में बेहोश लाइटनिंग को देख रहे थे। यह वही लाइटनिंग थी जो उन्हें स्कूल में रास्ते में कभी-कभी मिल जाया करती थी। दो-चार किताब-कॉपियों से भरे कपड़े के थैलों को पीछे लटकाए बच्चे धीरे-धीरे चलने लगते थे। लाइटनिंग खड़ी रहकर उन्हें ऐसे देखती जैसे कहती हो, "क्या तुम हमेशा इसी तरह चलते हो?"

पिंजरा चल दिया था। वनकर्मी और ऑफिसरों ने जिप्सियों के फाटक बन्द कर लिए थे। जिप्सियाँ एक के बाद एक खेत पार कर जा रही थीं। गाँववाले और बच्चे और उनकी माएँ घरों की तरफ लौट रहे थे।

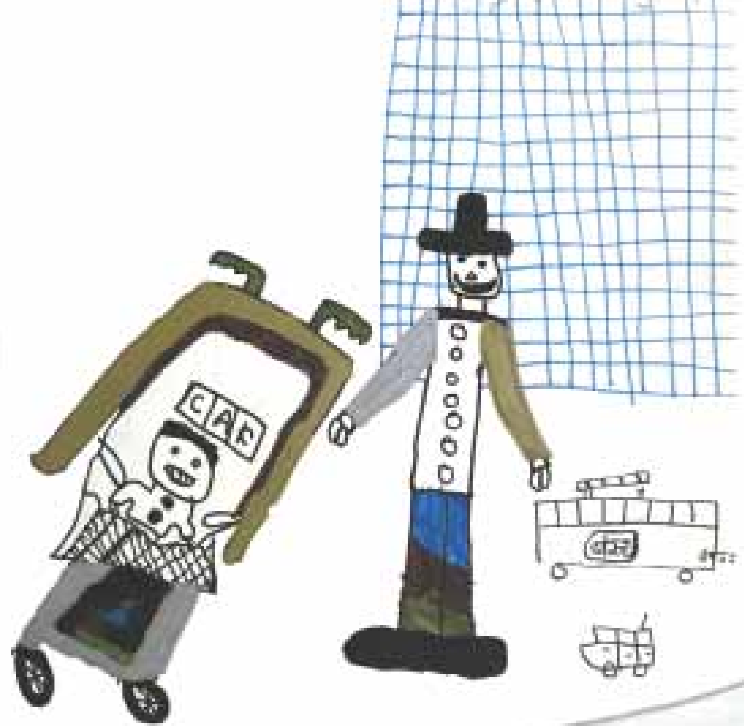
कुछ ही देर बाद वहाँ कोई नहीं था। जैसे यहाँ कुछ हुआ ही न हो। चाँद कुएँ के पानी में हिल रहा था।

चाँद को गर्व हो रहा था – कुछ ही देर पहले वह यहाँ थी। वह जो उसकी ओर मुँह उठाकर अकसर पुकारती थी, "रणथम्भौर ऽ ऽ ऽ रणथम्भौर ऽ ऽ ऽ रणथम्भौर ऽ ऽ ऽ।"

पलटकर आवाज़ गूँज जाती थी, "लाइटनिंग ऽ ऽ ऽ लाइटनिंग ऽ ऽ ऽ लाइटनिंग ऽ ऽ ऽ।"





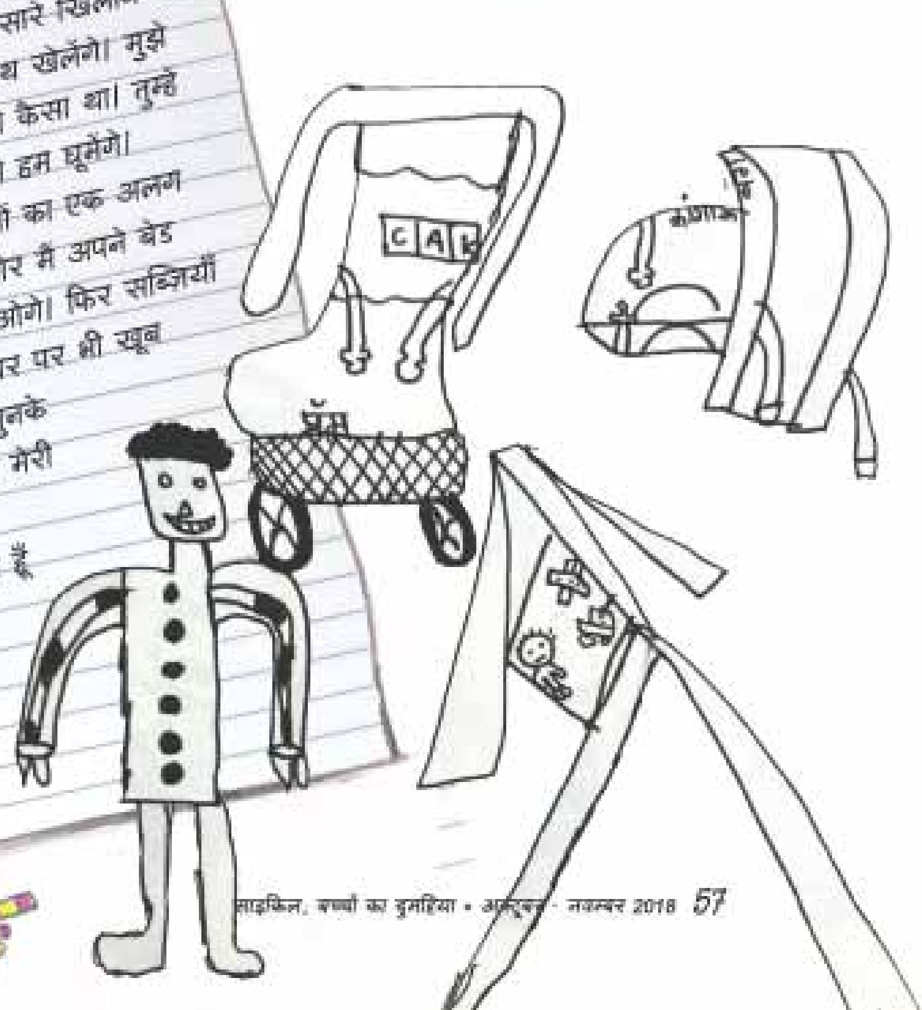




दो चिट्ठियाँ

हाय,
मैं स्मित। मैं बहुत दिनों से तुम्हारा इन्तज़ार कर रहा था।
अब तुम जल्दी से बाहर आ जाओ। फिर हम खूब
खेलेंगे। मेरे बचपन के मेरे पास बहुत ढेर सारे खिलौने
है। हम एक बार फिर उन खिलौने के साथ खेलेंगे। मुझे
तो याद नहीं कि जब मैं बहुत छोटा था तो कैसा था। तुम्हे
भी याद नहीं रहेगा। तुम जब आओगे तो हम घूमेंगे।
बगीचे मे जाएँगे। अपने घर मे हम दोनो का एक अलग
कमरा है। वहाँ तुम झूले मे सोओगे और मैं अपने बेड
पर। तुम पहले सिर्फ ममा का दूध पिओगे। फिर सब्जियाँ
खाओगे। जब तुम आओगे तो हम घर पर भी खूब
खेलेंगे। मैं तबला बजाऊँगा। तुम सुनके
बताना कि कैसा बजा। लेकिन यह मेरी
सोच है। तुम्हारी सोच अलग हो
सकती है। फिर से तुम्हे कह रहा हूँ
जल्दी बाहर आ जाओ...

तुम्हारा दोस्त
स्मित कबीर





मीर अमीर

मुझे भाई हुआ है ये तो तुमको पता ही है। मैं उसको रोज़ गोदी में लेता हूँ। वह मुझे टेडीबीयर जैसा लगता है। जब उसे नहलाते हैं तब वो बहुत परेशान हो जाता है। रोता है। और जब उसे दूध देते हैं तब वो शान्त हो जाता है। अभी वो उसकी माँ के पास सोया है। अभी वो फिर से दूध पी रहा है। जब उसे अकेला छोड़कर हम खाना खाने जाते हैं तब वो बहुत जोर से रोता है। थोड़ी देर में पापा उसे गोदी लेते हैं तो वह शान्त हो जाता है।

स्मित कबीर

यह क्या बताना कि स्मित कबीर को अभी-अभी एक भाई हुआ है। मीर अमीर। स्मित ने एक चिट्ठी उसके पैदा होने से पहले लिखी थी और एक ....।





भारतीय रेल का गीत



पूरे परे उरे दरे
मरे कोरे मरे
भारे भारे भारे

पूमरे पमरे
उमरे दमरे
भारे भारे भारे

उपूरे दपूरे
उपरे दपरे
भारे भारे भारे

दपूमरे उपूसीरे
पूतरे
भारे भारे भारे

हेमन्त देवलेकर
चित्रः अतनु राय



पहला अमरूद

सुशील शुक्ल
चित्रः तापोषी घोषाल

मैं अपनी बहिन के घर आया था। अपने घर से। बहिन भी उसी घर से कभी आई थी। दो तीन दिन यहाँ रहूँगा। फिर मैं अपने घर लौट जाऊँगा। बहिन भी कभी-कभी आती है। मगर उसका आना घर लौटना नहीं होता। हम दोनों ने एक ही घर से यात्रा शुरू की थी।

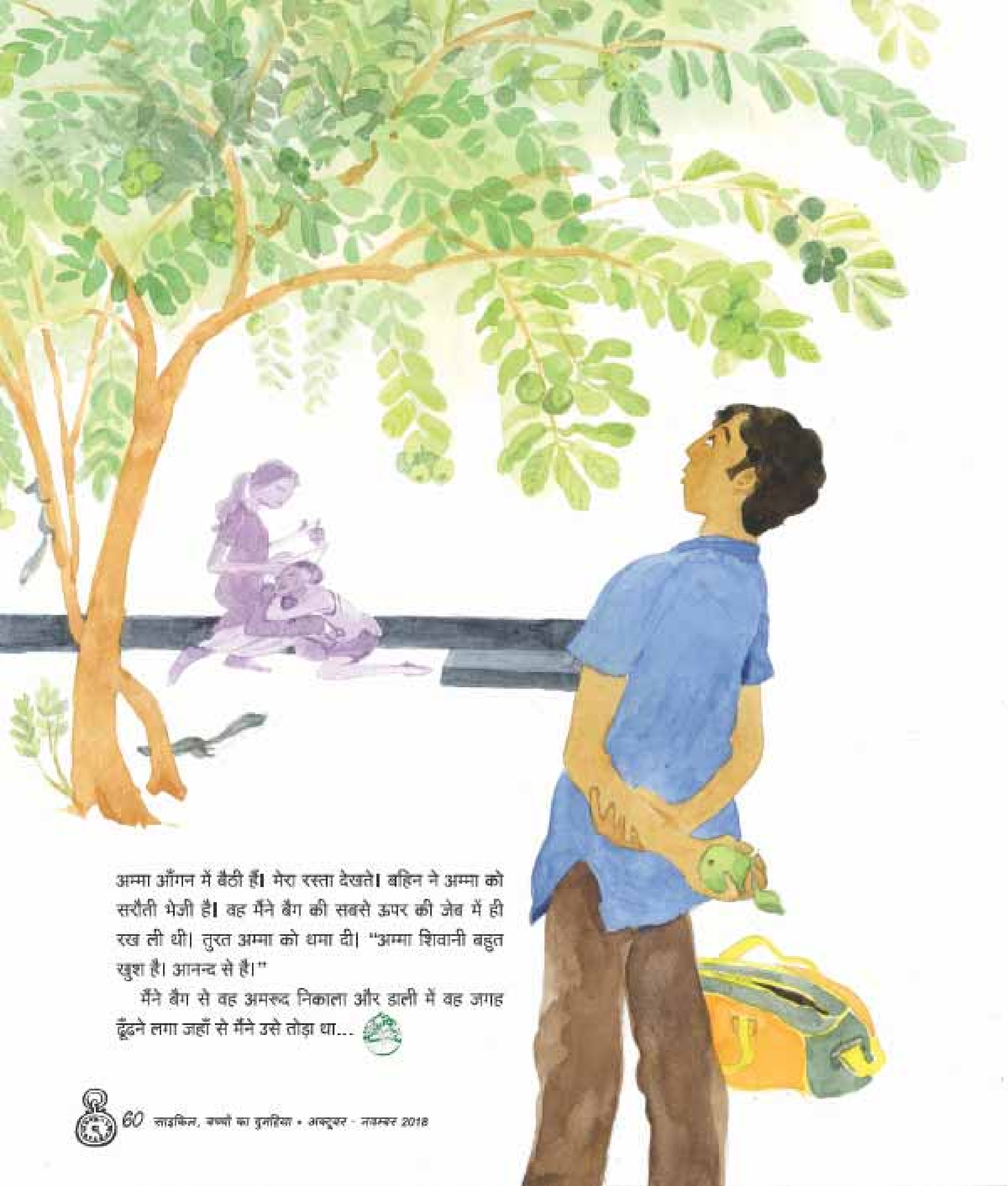
बहिन मुझसे तीन साल बड़ी है। वह मुझे बहुत लाड़ करती थी। वह कुछ भी खाती तो मेरा हिस्सा उसमें रहता ही था। जैसे सिर्फ उसके लिए कोई चीज़ नहीं बनी थी। मैं भी कभी-कभी उससे अपनी चीज़ें साझा करता था। उसे मेरे कपड़े छोटे होते थे। मगर मुझे उसके कपड़े बन जाते थे। बल्कि थोड़े ढीले होते थे। एक बार मैंने उसकी फ्रॉक पहन ली थी। वह इतनी हँसी इतनी हँसी...अपना पेट पकड़े हँसती ही रही। मैं नहीं समझा मगर वह हँस रही थी तो मैं भी हँस रहा था। मैंने उस दिन देखा कि वह कितनी खूबसूरत है। उस दिन मन में यह बात आती रही कि मैं लड़की क्यों न हुआ। होता तो हमेशा उसकी फ्रॉक पहन लिया करता। उस साल चौथी में मेरी सारी किताबें उसने पढ़ीं। वह पढ़ती और मैं सुनता।

आज सुबह से उसके घर आया हूँ। सुबह से बात-बात पर वह हँस रही है। उसके बच्चे, उसका पति सबका काम उसके बिना नहीं चल पा रहा है। मैं उससे अकेले में मिलना चाहता हूँ। मगर बच्चे हमेशा उसे घेरे रहते हैं। उसने बचपन में आँगन में एक अमरूद लगाया था। इस बार वह पहली बार फला है। यह पहला फल मैंने उसके लिए तोड़ा था। वही उसे देना चाहता हूँ। बच्चों के सामने दूँगा तो पता नहीं...वे शायद हँस देंगे। या क्या पता वह खुद न खाए और बच्चों को दे दे। या क्या पता बच्चे ही उससे झपट लें।

आज लौट रहा हूँ। रात की बस है। बस में सब सो रहे हैं। बस ड्राइवर जाग रहा है। ठण्ड की रात है। रास्ते में दूकानें हैं। एक दूकान पर सिगड़ी में आग दिख रही है। उसके एक दम करीब दो कुत्ते सो रहे हैं। केतली औंधी रखी है। कभी-कभी थोड़ी बहुत रोशनी दिख जाती है। कहीं दूर खेत में एक बल्ब लटका दिख जाता है। बाकी हर तरफ अँधेरा है। बस की हैडलाइट की रोशनी में थोड़ी-सी सड़क दिखती जा रही है। थोड़ी देर देखता हूँ तो लगता है कि रोशनी से उतनी ही सड़क बनती जा रही है जितनी बस चलने के लिए चाहिए।

यह कैसी यात्रा है? सब सो रहे हैं। बस से बाहर भी सब सोए लगते हैं। सुबह मैं घर पहुँच जाऊँगा। यह बस कल शाम को मेरे गाँव से होते हुए इसी रास्ते लौटेगी।

मेरी बहिन इसी बस से पहली बार ससुराल गई थी। मैं सोचता हूँ कि रात में वह सोते-सोते गई होगी कि जागते-जागते?

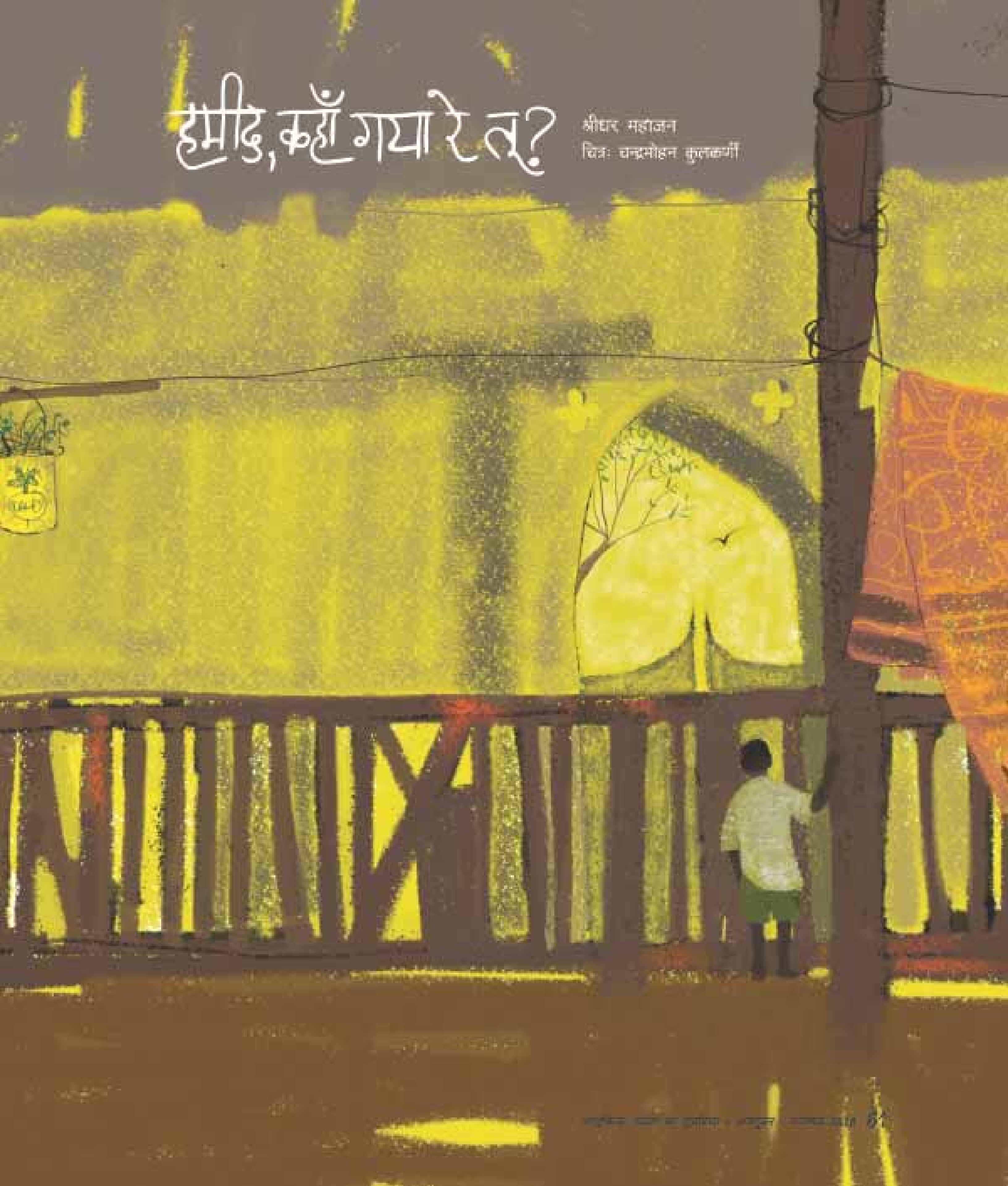


अम्मा आँगन में बैठी हैं। मेरा रस्ता देखते। बहिन ने अम्मा को सरौती भेजी है। वह मैंने बैग की सबसे ऊपर की जेब में ही रख ली थी। तुरत अम्मा को थमा दी। "अम्मा शिवानी बहुत खुश है। आनन्द से है।"

मैंने बैग से वह अमरूद निकाला और डाली में वह जगह ढूँढने लगा जहाँ से मैंने उसे तोड़ा था...

हमीद, कहाँ गया रे तू?

श्रीधर महाजन
चित्र: चन्द्रमोहन कुलकर्णी



बरसों पहले की बात है। तब मैं तीसरी कक्षा में था। स्कूल शुरू ही हुआ था। घण्टा बजते ही दीक्षित मास्टर कक्षा में आए। उनके साथ एक नया लड़का था। हमारी ही उम्र का। सर ने परिचय कराया, "यह हमीद है, तुम्हारी क्लास में पढ़ेगा।"

मेरे साथ बैठनेवाला खलदकर आज आया नहीं था। सर ने उसे मेरे पास बैठने को कहा। मैंने हँसकर उसकी ओर देखा और सरककर जगह बना दी। और अपना नाम बताया - श्रीधर। मैंने उसको लिखते देखा। उसके अक्षर बहुत सुन्दर थे। छुट्टी हुई। उसने पूछा, "तू कहाँ रहता है?" मैंने कहा, "जोगेश्वरी।" वह बोला, "चलो, हम साथ जाएँगे।" मैं जानना चाहता था कि वह कहाँ रहता है। मगर वह मेरे साथ ही आया। बोला, "मैं इस वाड़े में रहने आया हूँ।" मैंने कहा, "यही तो हमारा वाड़ा है। यह मेरा घर है।"

उसने पास का घर दिखा कर कहा, "और यह मेरा घर है। मैं यहाँ अपने मामा के पास रहने आया हूँ।"

मुझे एक नया मित्र मिला। हमारे ही वाड़े में रहने वाला। मेरे ही साथ पढ़ने वाला। तिमाही परीक्षा हुई। उसमें वह तीसरा आया मैं चौथा। हमारी पसन्द, स्वभाव बहुत मिलते-जुलते थे। हम दोनों पढ़ने के शौकीन थे। परीक्षा से डर या टेंशन नहीं होता था। उन दिनों हम चड्ढी, आधी बाँह का कुर्ता, काली टोपी व चप्पल पहनकर साथ-साथ आते-जाते थे। स्कूल का काम भी साथ ही करते थे। जल्द ही हमारी दोस्ती पक्की होती गई। वह मुझे 'बापू' कहता था।

अब हमें एक-दूसरे के बिना अजीब लगता था। पढ़ाई के साथ-साथ हम तरह-तरह के खेल भी खेलते थे। हमारे बगीचे में हमीद मेरे साथ काम करता। आँगन के नल में हाथ-पाँव धोकर मैं उसके घर जाता था। जब कभी आँगन या बगीचे में मैं अकेला दिखता तो वाड़े का कोई पूछता, "आज हमीद नहीं दिख रहा? कहाँ गया?" और हमीद को अकेले देखते तो मेरे बारे में पूछते।

छमाही परीक्षा होने पर हमीद अपने घर रत्नागिरी गया। दिवाली की छुट्टी का मतलब हमारे लिए मौज-मज़े का समय होता है। स्कूल नहीं, होमवर्क नहीं। खाना-पीना-खेलना-पटाखे छोड़ना...बस। मगर हमीद के नहीं होने से मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। बस यही लग रहा था कि यह छुट्टी कब खत्म होगी। माँ ने पूछा, "बापू, क्या हुआ? तू ऐसा उदास क्यों दिखाई देता है। हमेशा अकेला ही बैठा रहता है।"

आखिर छुट्टियाँ खत्म हुईं। स्कूल शुरू होने के अगले दिन हमीद आया। मैं बालकनी में खड़ा था। मैं जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतरकर उसे लाने दौड़ा, "आया हमीद।"

छुट्टी होने पर मैं भी उसके यहाँ जाता था। उसकी मामी कहती, "यह हर समय तुम्हारी ही बात करता रहता है। बापू का ऐसा, बापू का वैसा...।"

उसके बाद के पाँच-छह महीने बहुत मज़े से गुज़रे। एक साथ पढ़ना, खेलना, गपशप। हमेशा एक साथ। अप्रैल में हमारी वार्षिक परीक्षा से आठ-दस दिन पहले हम जल्दी उठकर पढ़ते, उसके घर या मेरे घर पर। एक साथ ही खाते, एक साथ सोते।

परीक्षा के बाद छुट्टियों में वह अपने घर रत्नागिरी जाने वाला था। हमने तय किया कि हम छुट्टियाँ साथ-साथ रत्नागिरी में मनाएँगे। मेरी माँ ने मुझे जाने की इजाज़त दे दी थी। पर ऐन जाने के समय मेरी दादी बोली, "तुम्हारी माँ को बच्चा होने वाला है। इस समय तुझे कहीं नहीं जाना है।"

और मेरा जाना रद्द हो गया। उस पूरा दिन मैं खूब रोया। मुझे कुछ भी सूझ नहीं रहा था। वहाँ मस्त घूमने-फिरने में समय बीतता पर अब मई महीने की छुट्टियाँ यहीं बितानी होंगी।

आखिर किसी तरह छुट्टियाँ खत्म हुईं। स्कूल 7 जून से शुरू होनेवाला था। उस दिन मैं हमीद के आने की राह देखते रहा मगर हमीद नहीं आया। सारी रात मैं सो नहीं सका। मुझे लगता जैसे हमीद ने 'बापू' कह कर आवाज़ दी हो। मुझे हर बार उसके आने का आभास होता। पर वह आभास ही था जानकर बहुत दुखी होता। अगले दिन मैं उसी हालत में स्कूल गया। इस साल हमें केलकर मास्टर पढ़ाने वाले थे। वे कक्षा में

आए और बच्चों से परिचय लेने लगे। तभी दीक्षित सर आए और उन्होंने पहले पाँच नम्बर के नाम पढ़े - हमीद, महाजन, श्रीधर। मैंने आतुरता से हमीद के बारे में पूछा। वे बोले, "हमीद के पिता उसका प्रमाणपत्र ले गए। वह अब रत्नागिरी के स्कूल में पढ़ेगा।"

यह सुन मेरी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। मुझे कुछ समझ नहीं आया क्या हुआ। छाती धड़-धड़ करने लगी। सिर चकराने लगा। हाथ-पाँव में जैसे जान न रही। हताश-सा मैं घर लौटा। माँ को हमीद के बारे में बताया। वह बोलीं, कहीं दूसरे गाँव बदली होने से हमीद के मामा-मामी यहाँ से चले गए हैं। हमीद को अब रत्नागिरी में पढ़ना पड़ेगा।

इस धक्के से सँभलने में कितने दिन लगे याद नहीं। वह 1941 का साल था। उसके बाद लगभग 75 सालों में हमीद से मेरी एक बार भी मुलाकात नहीं हुई। मुझे उसका पता नहीं मालूम था, पर उसे तो मेरा पता अच्छी तरह मालूम था। फिर भी उसने कभी कोई खत क्यों नहीं भेजा? कभी मिलने क्यों नहीं आया? पर इस दुनिया में वह जहाँ भी हो, सुख से रहे।

आज भी उसको याद कर बहुत दुख होता है। मन में एक सवाल आता है, "हमीद, मुझे न बता कर ऐसा कहाँ गया रे तू?"

(कवि यायावर ने श्रीधर महाजन की इस मराठी कहानी का अनुवाद किया है।)



जुगनू

अल्लामा इकबाल
चित्रः अतनु राय

सुनाऊँ तुम्हें बात एक रात की,
कि वो रात अँधेरी थी बरसात की,
चमकने से जुगनू के था इक समां,
हवा में उड़ें जैसे चिंगारियाँ।

पड़ी एक बच्चे की उस पर नज़र,
पकड़ ही लिया एक को दौड़ कर।
चमकदार कीड़ा जो भाया उसे,
तो टोपी में झटपट छुपाया उसे।

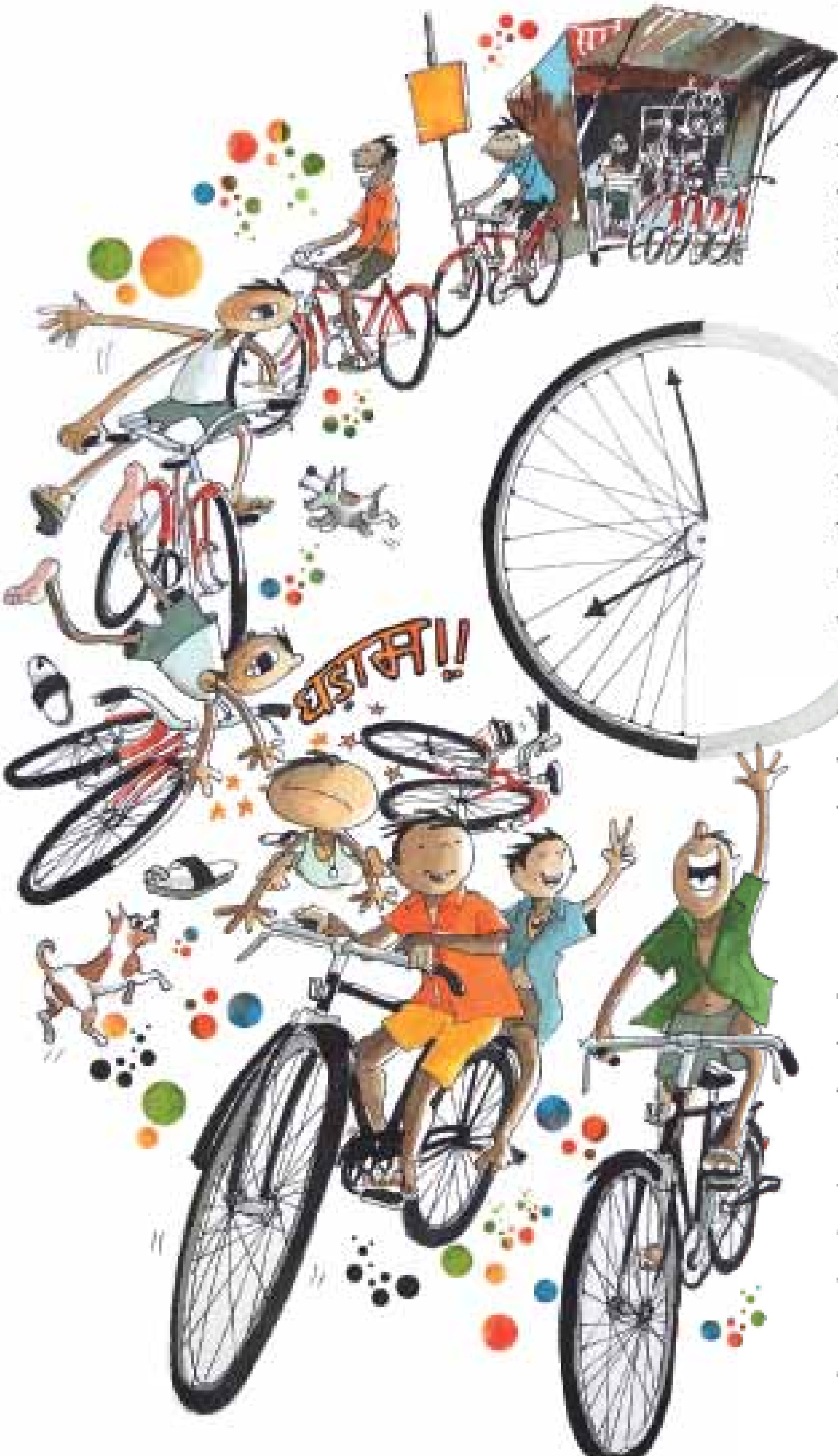
तो गमगीन कैदी ने की इल्तज़ा,
- ओ नन्हे शिकारी, मुझे कर रिहा।
खुदा के लिए छोड़ दे, छोड़ दे,
मेरे कैद के जाल को तोड़ दे।

- करूँगा न आज़ाद उस वक्त तक,
कि देखूँ न दिन में तेरी मैं चमक।
- चमक मेरी दिन में न पाओगे तुम,
उजाले में वो तो हो जाएगी गुम।

न अल्हड़पने से बनो पायमाल -
समझ कर चलो - आदमी की सी चाल।

किराए की साइकिल...

ईश्वर, सुखवाड़ा, चित्तौड़गढ़
चित्रः एलन शॉ



बात बहुत पुरानी है। 1987 से 95 के बीच की। हम लोग गर्मियों में किराए की छोटी साइकिल लेते थे। ज़्यादातर वो लाल रंग की होती थी। आप किसी को बैठा न लें इसलिए उसमें कैरियर नहीं होता था। किराया 50 पैसे या एक रुपए प्रति घण्टा होता था। किराया पहले देना होता था। दुकानदार नाम-पता नोट कर लेता था।

किराए के नियम कड़े होते थे... जैसे, पंचर या टूट-फूट होने पर सुधारने के पैसे हमीं को देने होते थे। हम किराए की छोटी-सी खटारा साइकिल पर सवार गलियों के युवराज होते थे। और पूरी ताकत से पैडल मारते। कभी हाथ छोड़कर चलाते और बैलेंस करते, तो कभी गिरकर उठते और फिर चल देते।

अपनी गली में आते तो सारे दोस्त बारी-बारी साइकिल माँगते। किराए के टाइम की लिमिट न निकल जाए, इसलिए तीन-चार बार साइकिल लेकर दूकान के सामने से निकलते।

उन दिनों छोटी साइकिल रखनेवाले बड़ी रईसी झाड़ते थे। अपनी तो किराए पर साइकिल लेने में ही रईसी होती।

हमारे घरों में बड़ी काली साइकिलें ही होती थीं। जिसे स्टैण्ड से उतारने और लगाने में ही पसीने छूट जाते थे। जिसे हाथ में लेकर दौड़ते, फिर एक पैडल पर पैर जमाकर बैलेंस करते।

ऐसा करते-करते कैंची चलाना सीखे। बाद में डण्डे को पार करने का कीर्तिमान बनाया। इसके बाद सीट तक पहुँचने का सफर एक नई ऊँचाई था। फिर सिंगल, डबल, हाथ छोड़कर, कैरियर पर बैठकर साइकिल के खेल किए।

खैर, ज़िन्दगी की साइकिल चल रही है। पर उसमें किराए की साइकिल-सा वो आनन्द नहीं।



अमिताश ओझा

कई बार ऐसा होता है जब सही या गलत का फैसला करना बहुत मुश्किल हो जाता है। जैसा पिछले अंक में छपी कहानी में हुआ। राहुल झूठ बोल कर अपने दोस्त को बचाए या सच बोलकर सारी कक्षा को।

प्रसिद्ध दार्शनिक इमनुअल कान्ट ने ऐसे धर्म संकट से निपटने के लिए एक मंत्र दिया है। अँग्रेज़ी में इसे ड्यूटी फोर ड्यूटी सेक कहते हैं। यानी फर्ज़ को यदि सिर्फ फर्ज़ समझ के किया जाए वह तभी न्याय संगत हो सकता है। ऐसा फर्ज़ जिसमें भावना ही सब कुछ हो वह धर्म नहीं, न्याय नहीं। मन्दिर में गरीब को भोजन कराना धर्म संगत है पर यदि उसके पीछे किसी और प्रकार की मंशा या अपेक्षा हो तो वह फर्ज़ नहीं।

वहीं दूसरी ओर सवाल एक व्यक्ति बनाम अनेक व्यक्ति का भी है। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि यदि किसी झूठ से अनेक लोगों का भला और केवल एक का बुरा हो तो वो झूठ बोल देना चाहिए। हम समाज में रहते हैं। हमारी ज़िम्मेदारी एक के प्रति से ज़्यादा अनेक के प्रति है।

पर हम भावनात्मक प्राणी भी हैं। एक व्यक्ति को अपने बेटे या बेटी के प्रति ज़िम्मेदारी समाज के प्रति ज़िम्मेदारी से ज़्यादा लग सकती है। दोस्ती का रिश्ता भी एक भावनात्मक रिश्ता है। राहुल जिस स्थिति में है वैसी स्थितियाँ हमारे सामने आती रहती हैं। राहुल क्या करेगा यह उस समय पर, परिस्थिति, विवेक, समझ, संस्कार तथा उसकी प्राथमिकता आदि पर निर्भर करेगा। ज़रूरी शायद यह है कि हम जो निर्णय लें उसकी ज़िम्मेदारी ले सकें। हमें अपने किए पर भरोसा हो। यह शायद तभी सम्भव है जब हम अपने निर्णयों के परिणामों को जान लें तथा उन्हें स्वीकार करें।

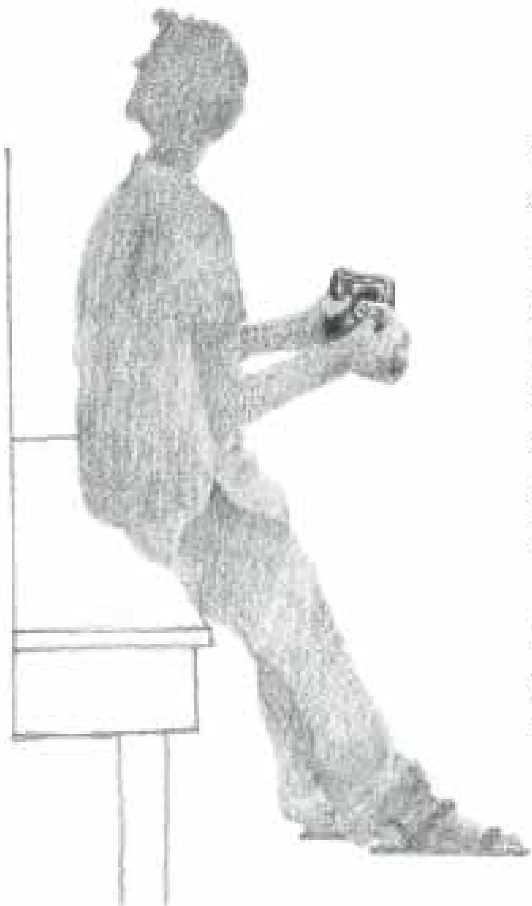
इस बार की कहानीः

ज़रूरत की दुविधा

महेश और यश अच्छे दोस्त थे। यश पढ़ाई में अच्छा था और हमेशा अच्छे अंक लाता था। समय-समय पर महेश को पाठ समझाने में मदद भी करता था। महेश एक सामान्य परिवार से था। उसके पिता एक प्राइवेट कम्पनी में काम करते थे। यश के पिता की मृत्यु कई वर्ष पहले हो चुकी थी। उसकी माँ कपड़े सिलती थीं। पैसों की तंगी थी। यश सोचता कि जैसे ही उसकी पढ़ाई पूरी हो जाएगी वो भी कोई काम कर लेगा। और घर चलाने में माँ की मदद करेगा।

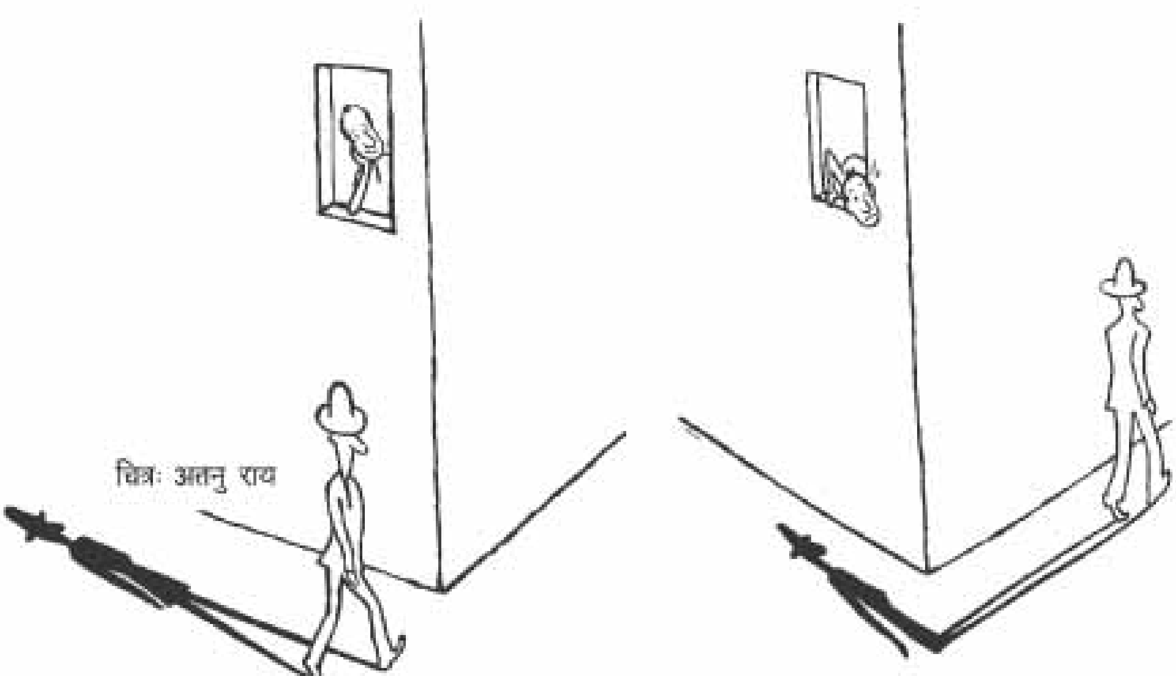
दोनों दोस्त एक दिन कॉलेज की कैंटीन में बैठे बात कर रहे थे। यश ने महेश को बताया कि कल कॉलेज की फीस देने का अन्तिम दिन है और उसके पास पैसे नहीं हैं। अगर कल तक उसने पैसे जमा नहीं किए तो उसे परीक्षा में नहीं बैठने दिया जाएगा। समस्या गम्भीर थी। अगर यश परीक्षा में शामिल नहीं हो पाया तो उसका एक साल बरबाद हो जाएगा। महेश के पास भी उतने पैसे नहीं थे कि वो यश की मदद कर सके।

दोनों आपस में बात कर ही रहे थे कि अचानक अर्जुन उनके पास आया। अर्जुन उनके कॉलेज में ही पढ़ता था। वह अमीर घर का लड़का था। उसने महेश और यश से कहा कि आज उसका जन्मदिन है और शाम को उसके घर पर एक बड़ी पार्टी है। उसने दोनों को पार्टी में आने को कहा। साथ ही उसने इतराते हुए अपनी जेब से दस हज़ार रुपए निकाले। बोला कि ये उसके पिता ने उसके जन्मदिन पर एक महँगी घड़ी खरीदने के लिए दिए हैं। पार्टी का न्यौता देने अर्जुन आगे चला गया।



थोड़ी देर बाद महेश क्लास में अर्जुन के ही पास बैठ गया। यश दूसरी क्लास में था। थोड़ी देर क्लास करने के बाद अर्जुन ने महेश से कहा कि उसे शाम की पार्टी की तैयारी करनी है। इसलिए वो क्लास से जल्दी जा रहा है। आधे घण्टे बाद क्लास खत्म हुई। महेश निकल ही रहा था कि उसकी नज़र एक बटुए पर पड़ी। वह अर्जुन का बटुआ था और उसमें दस हज़ार रुपए भी थे। महेश ने वो बटुआ उठा लिया और सोचा कि रात की पार्टी में अर्जुन को लौटा देगा। यह सोचता हुआ वो क्लास से निकला ही था कि यश दौड़ता हुआ आया। वह बड़ा परेशान लग रहा था। उसने कहा कि फीस जमा करने का अन्तिम दिन कल नहीं बल्कि आज ही है। अगर उसने फीस जमा नहीं की तो वह आने वाली परीक्षा में बैठ नहीं पाएगा।

महेश अब दुविधा में था। उसके पास अर्जुन के दस हज़ार रुपए थे। वह चाहे तो ये पैसे यश को दे सकता था। यश को उन पैसों की ज़रूरत थी। वहीं दूसरी ओर अर्जुन अपने उन पैसों से घड़ी खरीदने वाला था। ऐसे में महेश क्या करे, आप ही बताइए।



चित्रः अतनु राय



ता • रे • गा • मा • प • ध • नि • सा

तारों का संगीत

विवेक सोले



(चित्र 1- वृषभ तारामण्डल)

22 सितम्बर को दिन-रात 12-12 घण्टे के थे। तुमने भी देखा होगा कि इसके बाद से दिन छोटे होते जा रहे हैं और रातें लम्बी।

बारिशें खत्म हो गई हैं। बादल छँट गए हैं। इसलिए तारे नज़र आने लगे हैं। शहरों में तो तुम जानते ही हो कि इन्हें देखना क्यों मुश्किल है? शहर से बाहर निकलते ही अचानक इतने तारे दिखने लगते हैं। शहर और गाँव के आसमान अलग-अलग होते हैं!

नवम्बर का आकाश

11 नवम्बर - इस रात चाँद के पास एक सफेद चमकता तारा दिखेगा। वो तारा नहीं बृहस्पति (Saturn) ग्रह है। बृहस्पति सूरज का चक्कर लगभग 30 सालों में लगाता है। इसलिए कई महीनों में आकाश में लगभग उसी जगह दिखेगा। 11 नवम्बर को वो चाँद के सबसे पास होगा इसलिए उसे पहचानना आसान होगा।

16 नवम्बर - मंगल ग्रह (Mars) पूरे नवम्बर चमकते लाल तारे जैसा दिखेगा। 16 नवम्बर को वो चाँद के पास दिखेगा।

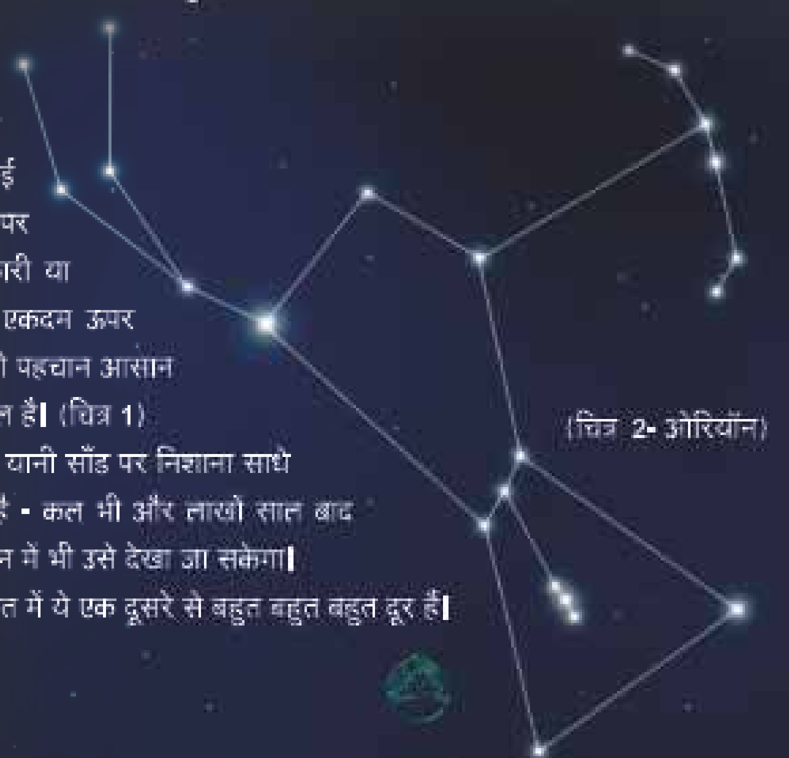
नवम्बर से पहले शुक्र शाम को चमकता दिखता था। नवम्बर से वो सुबह दिखेगा।

तारामण्डल (constellation)

कई-कई तारों के समूह को तारामण्डल कहते हैं। बहुत समय पहले लोगों ने आकाश में तारों के किसी समूह को काल्पनिक रेखाओं से जोड़कर उनमें कोई आकृति देखी। और उन्हीं आकृतियों के नाम पर तारामण्डल को उसका नाम मिला। जैसे चित्र 2 शिकारी या orion तारामण्डल है। नवम्बर में यह सुबह सिर के एकदम ऊपर आकाश में दिखेगा। इसकी बेल्ट के तीन तारों से इसकी पहचान आसान हो जाती है। इसके पास में ही वृषभ (taurus) तारामण्डल है। (चित्र 1)

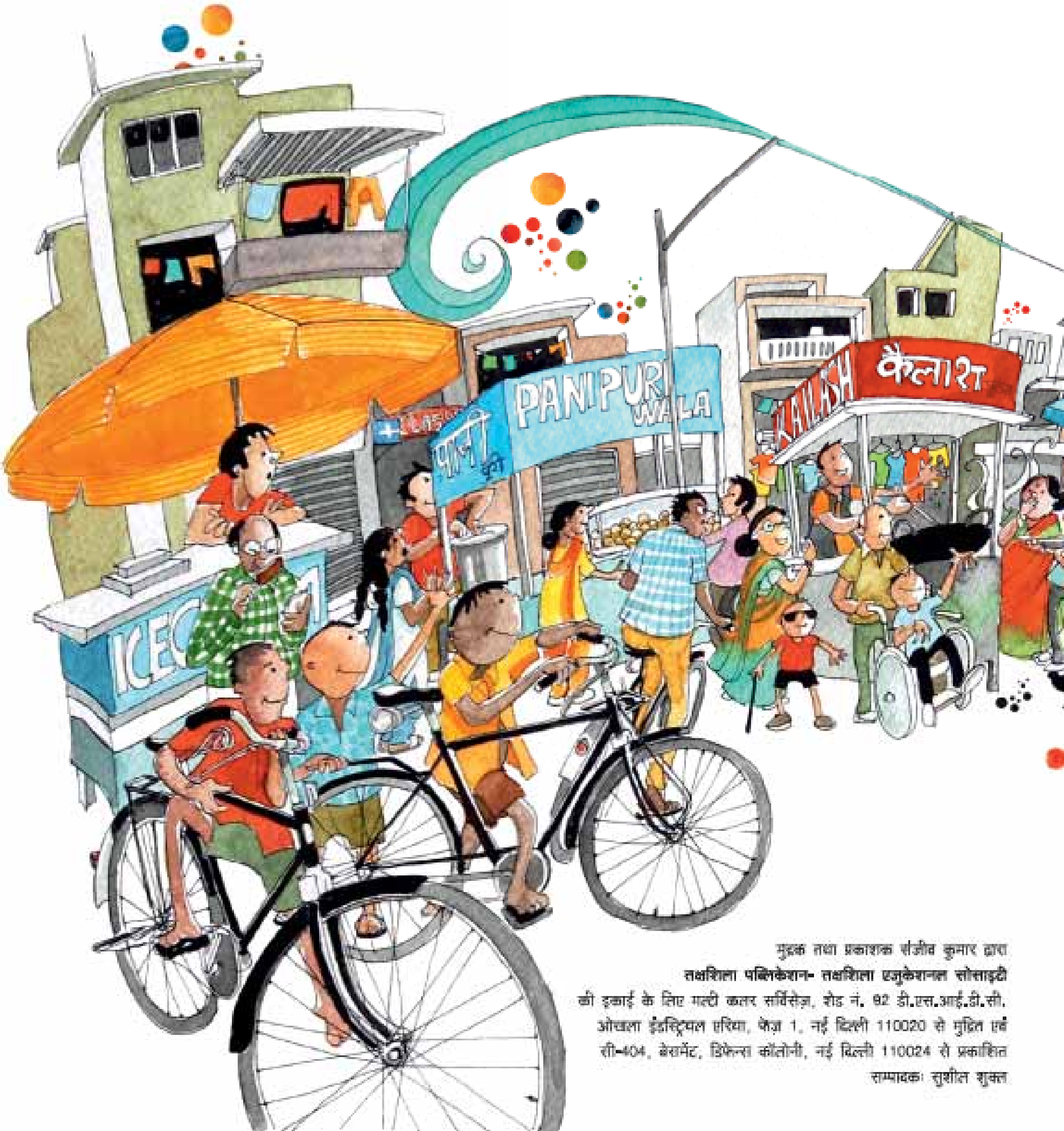
मिथकों के हिसाब से ओरियॉन यानी शिकारी वृषभ यानी साँड पर निशाना साधे हुए है। ओरियॉन का एक तारा कभी भी फट सकता है - कल भी और लाखों साल बाद भी। जब भी यह फटा इससे इतनी रोशनी फूटेगी कि दिन में भी उसे देखा जा सकेगा।

आकृतियों में ये तारे भले ही पास-पास दिखें, हकीकत में ये एक दूसरे से बहुत बहुत बहुत दूर हैं।



(चित्र 2- ओरियॉन)

आर.एन.आई. नम्बर आवेदित



मुद्रक तथा प्रकाशक संजीव कुमार द्वारा
तक्षशिला पब्लिकेशन- तक्षशिला एजुकेशनल सोसाइटी
की इकाई के लिए मल्टी कलर सर्विसेज़, शेड नं. 92 डी.एस.आई.डी.सी.
ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज़ 1, नई दिल्ली 110020 से मुद्रित एवं
सी-404, बेसमेंट, डिफेन्स कॉलोनी, नई दिल्ली 110024 से प्रकाशित
सम्पादक: सुशील शुक्ल